कठोपनिषत्

भाष्य- जगद्गुरु आचार्य श्रीशंकर भगवत्पाद।

टीका- श्रीमत्स्वामी आनन्द गिरि जी महाराज।

टीपण्णी- महामंडलेश्वर स्वामी विष्णुदेवानन्द गिरि जी महाराज।

(कैलास आश्रम, ऋषिकेश)

हिन्दी रूपान्तर- स्वामी विष्णुतीर्थ परमहंस।

कठोपनिषत्

शान्तिमंत्र

ओम् सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै।। ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः।।

वह परमात्मा हम आचार्य और शिष्य दोनों की साथ–साथ रक्षा करें। वह हम दोनों के विद्याजन्य सामर्थ्य का सम्पादन करें। हम दोनों के अधीत (विद्या) तेजस्वी हो। और हम कभी परस्पर द्वेष न करें। त्रिविध शान्ति तीन प्रकार के ताप के शमन के लिए है।

आनन्दगिरि टीका

धर्माधर्माद्यसंसृष्टं कार्यकारणवर्जितम्।
कालादिभिरविच्छिन्नं ब्रह्म यत्तन्नमाम्यहम्।।

धर्म तथा अधर्म (तथा उनके फल सुख दुःख आदि) से असंसर्गी, कार्य और कारण से रहित, देश काल आदि से अपरिच्छिन्न जो ब्रह्म है, उसे मैं नमस्कार करता हूँ। जिसने परमानन्द का साक्षात्कार किया है, जो अधिकार पर्यन्त यम पदवी में स्थित हैं (प्रारब्ध कर्म से जिन्हे यम पदवी एक कल्प पर्यन्त मिली है), जो अकर्ता ब्रह्म–आत्मा–ऐक्य के अनुभव से, पापी जीवों को यातना देने के कारण उससे होने वाले दोषों से अलिप्त स्वभाव के हैं, वर प्रदान के द्वारा परब्रह्म और आत्मा का ऐक्य ज्ञान का उपदेश करने वाला वह आचार्य, और जिस नचिकेता को उपदेश किया वह उत्तम अधिकारी, इन दोनों को नमस्कार करते हुए शंकराचार्य भक्ति को ज्ञान प्राप्ति का अंग होना दिखाते है – **भाष्य – ओम् नमो भगवते वैवस्वताय मृत्यवे ब्रह्मविद्याचार्याय नचिकेतसे च।** ब्रह्मविद्या के आचार्य विवस्वान के पुत्र भगवान यम देवता और चचिकेता को नमस्कार है। **टीका** – अथ शब्द मंगल

अर्थवाला है। करने के इष्ट ग्रन्थ की प्रतिज्ञा करते हैं – **अथ [1]काठकोपनिषद्वल्लीनां सुखार्थ प्रबोधनार्थमल्पग्रन्था वृत्तिरारभ्यते।** अब काठक उपनिषत् के अध्यायों का सुख पूर्वक अर्थ ज्ञान के लिए संक्षिप्त वृत्ति का आरम्भ होता है। १. कठ ऋषि द्वारा कहा गया काठक।

टीका – शंका – उपनिषद् की व्याख्या का आरंभ नहीं करनी चाहिए। क्योंकि कामनाओं से कलुषित अन्तःकरण वाले, उपनिषत् श्रवण से विमुख होने से, विशिष्ट अधिकारी का निरूपण कष्टसाध्य होने से, सत्य बन्ध की निवृत्ति कर्म से ही संभव होने से, इसलिए उपनिषद् से उत्पन्न विद्या प्रयोजन हीन होने से, तथा जीव को असंसारी ब्रह्म के स्वरूप आशंकाओं को मन में रखते हुए भाष्यकार उपनिषद् शब्द के अर्थ के कथन द्वारा विद्या का विशिष्ट अधिकारी आदि के प्रदर्शन द्वारा यह ग्रन्थ सविषय है और व्याख्या के योग्य है, यह कहते हैं। पहले उपनिषद् शब्द के स्वरूप की सिद्धि कहते हैं –

सदे र्धातोर्विशरणगत्यवसादनाथस्योपनिपूर्वस्य क्विप्प्रत्ययान्तस्य रूप– मुपनिषदिति। उप और नि पूर्वक, विशरण, गति, अवसादन अर्थ वाले षद्लृ धातु से क्विप् प्रत्यय होकर उपनिषत् शब्द की सिद्धि हुई है। टीका – 'उपनिषदं भो ब्रूही' इत्यादि प्रयोग देखे जाने से ब्रह्मविद्या रूप उपनिषत् शब्द का अर्थ कहते हैं – **उपनिच्छब्देन च व्याचिख्यासितग्रन्थप्रतिपाद्यवेद्यवस्तुविषया विद्योच्यते।** उपनिषत् शब्द से जिस ग्रन्थ की व्याख्या करना चाहते हैं, उसके प्रतिपाद्य वेद्य वस्तु को विषय करने वाली विद्या कही जाती है। **टीका** – क्लृप्त (नियत, प्रसिद्ध) अवयव शक्ति के द्वारा प्रयोग संभव होने से समुदायशक्ति वाला उपनिषत् शब्द की कल्पना नहीं करनी चाहिए इस पर शंका करते हैं – **केन पुन[1]रर्थयोगेनोप निषच्छब्देन विद्योच्यत इति** किस अर्थ योग से उपनिषत् शब्द के द्वारा विद्या अर्थ किया जाता है। १. अर्थयोगेन– किस अवयव अर्थ से। टीका– षद्लृ धातु विशरण गति और अवसादन के अर्थ में प्रयुक्त होता है उसमें विशरण अर्थ को लेकर यौगिक वृत्ति कहते हैं– **उच्यते। ये मुमुक्षवः दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णाः सन्त उपनिषदच्छब्दवाच्यां वक्ष्यमाणलक्षणां विद्यामुपसद्योपगम्य तन्निष्ठतया निश्चयेन शीलयन्ति तेषामविद्यादेः संसारबीजस्य विशरणाद्विसशनादित्यनेनार्थयोगेन**

विद्योपनिषदित्युच्यते। तथा च वक्ष्यति ''निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्र-मुच्यते'' इति। कहते हैं। जो दृष्ट (इसलोक) अनुश्रविक (परलोक) के विषयों से वितृष्णा को प्राप्त मुमुक्षु, कहे जाने वाले उपनिषत् शब्द के वाच्य विद्या को प्राप्त कर उसमें पूर्ण निष्ठा रखते हुए निश्चय पूर्वक परिशीलन (विचार) करते है। उन मुमुक्षुओं के संसार के बीज (कारण) अविद्या आदि के विशरण अर्थात् विनाश करने के अर्थ से युक्त होने से उपनिषत् विद्या कही जाती है। इस बात को आगे कहेंगे '' उस आत्मा को साक्षात्कार करके मनुष्य मृत्यु-मुख से छूट जाता है।'' **टीका** - क्षय आदि दोषों के दर्शन से विषयों से विरक्त बिरले मुमुक्षु होते हैं, यह प्रसिद्ध है, आप जैसे कामुक सारे मुमुक्षु नहीं होते हैं। इस बात को प्रसिद्ध के प्रकाशक यत् (जो) शब्द के द्वारा कहते हैं। आनुश्रविक अर्थात् शास्त्र से ज्ञात स्वर्ग के भोग आदि। उपसद्य अर्थात् आचार्य के उपदेश से प्राप्त कर साक्षात्कार पर्यन्त परिशीलन करते हैं। अर्थात् संसारी जीव और असंसारी ब्रह्म के ऐक्य में असंभावना आदि दोषों का निराकरण करते हैं। अब षद्लृ धातु के गति अर्थ को लेकर कहते हैं - **पूर्वोक्तविशेषणान्मुमुक्षून्वा परं ब्रह्म गमयतीति ब्रह्मगमयितृत्वेन योगाद्-ब्रह्मविद्योपनिषत्। तथा च वक्ष्यति ''ब्रह्म प्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्युः'' इति।** अथवा विद्या, कहे गये विशेषणों से युक्त मुमुक्षु को ब्रह्म को प्राप्त कराती है। प्राप्त कराने के कारण उपनिषत् ब्रह्मविद्या है। इस बात को आगे श्रुति कहेगी ''ब्रह्म को प्राप्त कर मुमुक्षु धर्माधर्म रूप रज से रहित होकर मृत्यु रहित हो जाता है।''

टीका - अग्निविद्या में भी अवसादन अर्थ में उपनिषत् शब्द का प्रयोग है, इसे कहते हैं - **लोकादिर्ब्रह्मजज्ञो योऽग्निस्तद्विषयाया विद्याया द्वितीयेन वरेण प्रार्थ्यमानायाः स्वर्गलोकफलप्राप्तिहेतुत्वेन गर्भवासजन्मजराद्युपद्रववृन्दस्य लोकान्तरे पौनःपुन्येन प्रवृत्तस्यावसादयितृत्वेन शैथिल्यापादनेन धात्वर्थ-योगादग्निविद्याप्युपनिषदित्युच्यते। तथा च वक्ष्यति -'स्वर्गलोका अमृतत्त्वं भजन्ते' इत्यादि।** भू आदि लोकों की उत्पत्ति से पूर्व सिद्ध हिरण्य गर्भ से उत्पन्न और ज्ञानी जो अग्नि, उसको विषय करने

वाली उपासना (अग्निविद्या), जिसे जानने के लिए नचिकेता ने दूसरे वर से प्रार्थना की थी, जो स्वर्गलोक रूप फल के प्राप्ति का हेतु है, जिसे प्राप्त करने पर, लोकान्तर में प्रवृत्त बार–बार गर्भवास, जन्म, जरा आदि उपद्रव समूह को अवसादन अर्थात् शिथिल करने वाली अग्नि विद्या को षद्लृ धातु के अर्थ योग से उपनिषत् भी कहा जाता है। इस बात को आगे श्रुति बतायेगी 'स्वर्ग लोक में अमृतत्त्व को प्राप्त करते हैं'' **टीका** – भू आदि लाकों के आदि और प्रथम उत्पन्न ब्रह्म (हिरण्यगर्भ) से जन्म लिया इससे ब्रह्मजः, वह जानता है इससे ज्ञः, तब बना ब्रह्मजज्ञ। **ननूपनिषच्छब्देनाध्येतारो ग्रन्थमप्यिभिलपन्ति। उपनिषद–मधीमहेऽध्यापयाम इति च।** शंका– उपनिषत् शब्द को पढ़ने वाले ग्रन्थ में भी प्रयोग करते हैं। जैसे हम उपनिषत् पढ़ते हैं और पढ़ाते हैं। इत्यादि। **एवं नैष दोषोऽविद्यादिसंसारहेतुविशरणादेः सदि–धात्वर्थस्य ग्रन्थमात्रेऽसंभवाद्विद्यायां च सम्भवात्। ग्रन्थस्यापि तादर्थ्येन तच्छब्दत्वोपपत्तेः। ''आयुर्वे घृतम्'' (तै.सं. २.३.११) इत्यादिवत्। तस्माद्विद्यायां मुख्यया वृत्त्योपनिषच्छब्दो वर्तते ग्रन्थे तु भक्त्येति।** इस प्रकार प्रयोग में कोई दोष नहीं है। संसार के हेतु अविद्या आदि के विशरण आदि सद् धातु का अर्थ होने से ग्रन्थ मात्र में असंभव है, किन्तु विद्या में संभव है। विद्या उत्पत्ति में ग्रन्थ भी उपयोगी होने से उपनिषत् शब्द का प्रयोग संभव है। 'घी आयु है' यहाँ आयु बढ़ाने में हेतु होने से घी को जैसे आयु कहा जाता है, इस प्रकार समझना चाहिए। इसलिए विद्या में मुख्य वृत्ति से उपनिषत् शब्द की प्रवृत्ति है और ग्रन्थ में औपचारिक प्रयोग है। **टीका** – भक्त्या अर्थात् उपचार से उपनिषत् शब्द का प्रयोग है। (सहचरणादि– निमित्तेन अतद्भावे तद्वदभिधानमुपचारः। साथ साथ रहने के हेतु से जिसमें जो नहीं है उसमें उसका कथन उपचार कहा जाता है, अर्थात् लक्षणा से) उपनिषत् शब्द निर्वचन से सिद्ध अर्थ कहते हैं – **एवमुपनिषच्छब्दनिर्वचनेनैव विशिष्टोऽधिकारी विद्याया–मुक्तः। विषयश्च विशिष्ट उक्तो विद्यायाः परं ब्रह्म प्रत्यगात्मभूतम्। प्रयोजनं चास्या उपनिषद आत्यन्तिकी संसारनिवृत्तिर्ब्रह्मप्राप्तिलक्षणा।**

संबन्धश्चैवंभूतप्रयोजनेनोक्तः। अतो यथोक्ताधिकारिविषयप्रयोजन-संबन्धाया विद्यायाः करतलन्यस्तामलकवत्प्रकाशकत्वेन विशिष्टाधिकारि-विषयप्रयोजनासंबन्धा एता वल्लयो भवन्तीति। अतस्ता यथाप्रतिभानं व्याचक्ष्महे। इस प्रकार उपनिषत् शब्द के कथन से विद्या का विशिष्ट अधिकारी कहा गया। विद्या का विशिष्ट विषय भी प्रत्यगात्म स्वरूप ब्रह्म है, यह कहा गया। इस उपनिषत् का, संसार की अत्यन्त निवृत्ति और ब्रह्म की प्राप्ति लक्षण वाला प्रयोजन है। संबन्ध भी इस प्रकार के प्रयोजन से कहा गया है। (अर्थात् साध्य साधन वाला प्रयोजन है। साध्य ब्रह्मात्मा की एकता और साधन विद्या है।) इसलिए कहे गये अधिकारी, विषय, प्रयोजन, संबन्ध वाली विद्या, हस्त में स्थित आमला के समान प्रकाशक (जनक) होने से, ये वल्लियाँ विशिष्ट अधिकारी-विषय-प्रयोजन-संबन्ध वाली हैं। इसलिए हम अपनी समझ के अनुसार इन वल्लियों की व्याख्या करते हैं।
टीका - आत्यन्तिकी निवृत्ति अर्थात् निदान की निवृत्ति से निवृत्ति विवक्षित है। (निदानं त्वादिकारणं इति अमरः - अमर कोश में आदिकारण को निदान कहा गया है। अन्वय व्यतिरेक (रूप अनुभव) से, शास्त्र से और युक्ति से (श्रुति, युक्ति, अनुभव) संसार का आत्मा के साथ एकत्व ही अविद्या है। वह कर्म से नष्ट नहीं होती, इसलिए (अविद्या केवल विद्या से निवर्त्य होने से) विद्या के प्रयोजन से साध्य-साधन लक्षण संबन्ध है।

ओम् उशन्ह वै वाजश्रवसः सर्ववेदसं ददौ।
तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस।। १।।

ओम्- मंगल वाचक। **ह वै**-शास्त्रों में प्रसिद्ध है कि **उशन्**-फल की कामना से, **वाजश्रवसः सर्ववेदसं ददौ**- वाजश्रव नामक ऋषि ने विश्वजित यज्ञ में समस्त धन का दान कर दिया। **तस्य ह नचिकेता नाम पुत्रः आस**- उसका नचिकेता नाम से एक पुत्र था।। १।।

तत्राऽऽख्यायिका [१]विद्यास्तुत्यर्थाः। उशन्कामयमानो ह वा इति वृत्तार्थस्मरणार्थौ निपातौ वाजमन्नं तद्दानादिनिमित्तं श्रवो यस्य स

वाजश्रवा रूढितो वा तस्यापत्यं वाजश्रवसः किल विश्वजिता सर्वमेधे- नेजे तत्फलं कामयमानः। स तस्मिन्क्रतौ सर्ववेदसं सर्वस्वं धनं ददौ दत्तवान्। तस्य यजमानस्य ह नचिकेता नाम [2]पुत्रः [3]किलाऽऽस बभूव।। १।। यहाँ पर आख्यायिका (कथा) विद्या की स्तुति के लिए है। ह और वै ये दोनों निपात पहले किये हुए (विश्वजित यज्ञ के) स्मरण के लिए है। विश्वजित यज्ञ के उशन-फल की कामना रखते हुए, वाज अर्थात् अन्न, उसके दान से होने वाला श्रव अर्थात् कीर्ति जिसको थी वह वाजश्रव है, या रूढि से वाजश्रव नाम है, उसके पुत्र वाजश्रवा। प्रसिद्ध है कि उसने फल (स्वर्ग) की कामना रखते हुए सर्वस्व दान वाले विश्वजित यज्ञ का संपादन किया। उस यज्ञ में उसने सर्वस्व धन का दान दिया। प्रसिद्ध है कि उस यजमान का नचिकेता नाम से एक पुत्र था।। १।। १. विद्यास्तुत्यर्थाः - यम के द्वारा दिव्य भोग आदि से प्रलोभित किये जाने पर भी नचिकेता विद्या के लिए उन्हें त्याग दिया, इस प्रकार विद्या स्तुति के लिए यह आख्यायिका है। २. पुं नाम नरक से जो पिता की रक्षा करता है उसे पुत्र कहते हैं। इससे यह सूचित होता है नचिकेता में वह योग्यता थी, जिससे उसमें श्रद्धा का आवेश हुआ। ३. ह यह निपात का पर्यायवाची किल शब्द है।

टीका - वश धातु कान्ति (इच्छा) अर्थ में है। इससे शतृ प्रत्यय होकर उशन् यह रूप सिद्ध हुआ है। श्रव अर्थात् कीर्ति। सर्वमेधेन अर्थात् सर्वस्व दक्षिणा के द्वारा उसने यज्ञ किया।। १।।

तँ॒ह [1]कुमारँ॒सन्तं दक्षिणासु नीयमानासु श्रद्धाऽऽ- विवेश सोऽमन्यत।। २।।

दक्षिणासु नीयमानासु- उस समय दक्षिणा के रूप में ले जाते हुए गौओं देखकर **कुमारं सन्तम्-** कुमार अवस्था वाले नचिकेता में **श्रद्धा आविवेश-** श्रद्धा (आस्तिक्य बुद्धि) उत्पन्न हुई। **सः अमन्यत-** उसने सोचा।। २।। १. कुमारं सन्तं - विशुद्ध मन बालक जिस अर्थ को जानता है, उसे लोभ आदि से ग्रस्त मनवाले नहीं जानते, इसलिए अनर्थ हेतु होनेसे लोभ आदि त्याग के योग्य है इस बात का उपदेश देने के लिए कुमार शब्द का ग्रहण है।

तं ह नचिकेतसं कुमारं [1]प्रथमवयसं सन्तमप्राप्तप्रजननशक्तिं बालमेव श्रद्धाऽऽस्तिक्यबुद्धिः पितुर्हितकामप्रयुक्ताऽऽविवेश प्रविष्टवती। कस्मि-न्काल इत्याहऋत्विग्भ्यः सदस्येभ्यश्च दक्षिणासु नीयमानासु विभागेनोपनीयमानासु दक्षिणार्थासु गोषु स आविष्टश्रद्धो नचिकेता अमन्यताऽऽलोचितवान्।। २।। पिता की हित कामना से प्रेरित होकर, प्रजन शक्ति से रहित छोटी उमर, कुमार अवस्था में अर्थात् बालक नचिकेता में, श्रद्धा अर्थात् आस्तिक्य बुद्धि प्रविष्ट हुई (आस्तिक बुद्धि का आविर्भाव हुआ)। किस समय? इस पर कहते हैं – जब ऋत्विजों को और सदस्यों को दक्षिणा के रूप में विभाग पूर्वक ले जाती हुई गौओं को देख कर, उस समय, श्रद्धा से आविष्ट नचिकेता ने अमन्यत अर्थात् मन में आलोचना की।। २।।

टीका – सदस्य अर्थात् यज्ञसभा में जो अन्य ब्राह्मण सम्मिलित हुए थे।। २।। १. प्रथमवयसं – 'कौमारं पंचमाब्दान्तं पौगण्डं दशमावधि। कैशोरं आपंचदशात् यौवनं च ततः परम्। आषोडशात् भवेद्बालः तरुणः तत उच्यते। वृद्धः स्यात्सप्ततेः ऊर्ध्वं वर्षीयान्नवतेः परम्।। ५ वर्ष तक कुमार, १० वर्ष तक पौगण्ड, १५ वर्ष तक किशोर और उसके बाद युवक। १६ वर्ष से पूर्व बालक, उसके बाद तरुण कहा जाता है। ७० से ऊपर वृद्ध और ६० से ऊपर अतिवृद्ध कहा जाता है।

पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः।
अनन्दा नाम ते लोकास्तान्स गच्छति ता ददत्।। ३।।

पीतोदकाः जग्धतृणाः दुग्धदोहाः निरिन्द्रियाः– जल पी चुकी है और घास खा चुकी है, जिनका दूध दुह लिया गया है, निर्बल अर्थात् जो प्रजनन शक्ति से रहित हैं, **ताः ददत्**– ऐसी बूढी गौओं का दान करने से, **सः अनन्दा नाम ते लोकाः**– वह दाता अनन्दा अर्थात् सुख से रहित जो लोक है, **तान् गच्छति**– उन लोकों में जाता है।। ३।।

कथमित्युच्यते– पीतोदका इत्यादिना। दक्षिणार्था गावो विशि- ष्यते। पीतमुदकं याभिस्ता पीतोदकाः। जग्धं भक्षितं तृणं याभिस्ता जग्धतृणाः। दुग्धो दोहः क्षीराख्यो यासां ता दुग्धदोहाः। निरिन्द्रिया

अप्रजननसमर्था जीर्णा निष्फला गाव इत्यर्थः। यास्ता एवंभूता गाऋत्विग्भ्यो दक्षिणाबुद्ध्या ददत्प्रयच्छन्ननन्दा अनानन्दा असुखा नामेत्येतद्ये ते लोकास्तान्स यजमानो गच्छति।। ३।। नचिकेता ने किस प्रकार विचार किया उसे पीतोदका आदि मंत्रों से श्रुति कह रही है। दक्षिणा के रूप में दी जाने वाली गौओं का विशेषण देते हैं। (अर्थात् दक्षिणा में दी जाने वाली गाय कैसी थी) जो जल पी चुकी है अर्थात् जिनमें जल पीने की शक्ति नहीं है, जो घास खा चुकी है, आगे घास खाने की शक्ति नहीं है, जिनका दूध दुहा जा चुका है, अर्थात् जो आगे दूध नहीं दे सकती, निर्बल अर्थात् जिनमें प्रजनन शक्ति नष्ट हो गयी है, अर्थात् निष्फला हैं। इस प्रकार के गौओं को दक्षिणा बुद्धि से जो यजमान, ऋत्विगों को देता है, वह सुख रहित लोकों को (पशु पक्षी आदि शरीरों को) प्राप्त करता है।। ३।। **टीका** - पहले जल पी चुकी है, आगे पीने की शक्ति नहीं है यह अर्थ है।। ३।।

स होवाच पितरं तत कस्मै मां दास्यसीति।
द्वितीयं तृतीयं तँ होवाच मृत्यवे त्वा ददामीति।। ४।।

ऐसे विचार कर **सः ह उवाच**– नचिकेता ने पिता से कहा – **तत! मां कस्मै दास्यसि इति**– पिताजी! आप मुझे किसे दक्षिणा में देंगे ? (क्योंकि मैं भी आपका धन हूँ) **द्वितीयं तृतीयम्**– इस प्रकार दूसरी और तीसरी बार पूछने पर, **तं ह उवाच**– (क्रोधित) उसके पिता ने उसे कहा कि **मृत्यवे त्वा ददामि इति**– मैं तुझे मृत्यु (यम देवता) को दे रहा हूँ, इस प्रकार।। ४।।

तदेव क्रत्वसंपत्तिनिमित्तं पितुरनिष्टं फलं मया पुत्रेण सता निवारणीयमात्मप्रदानेनापि क्रतुसंपत्तिं कृत्वेत्वेवं मत्वा पितरमुपगम्य स होवाच पितरं हे तत तात कस्मै ऋत्विग्विशेषाय दक्षिणार्थं मां दास्यसि इति प्रयच्छसीत्येतत्। मुझ पुत्र के रहते हुए उस यज्ञ के अपूर्णता रूप पिता के अनिष्ट का निवारण होना चाहिए, क्यों न अपने आप का बलिदान के द्वारा यज्ञ की पूर्णता संपादन करूँ,

इस प्रकार सोच कर, पिता के पास जाकर, उसने कहा- हे तात! किस विशेष पुरोहित को आप मुझे दक्षिणा के रूप में देंगे।

एवमुक्तेन पित्रोपेक्ष्यमाणोऽपि द्वितीयं तृतीयमप्युवाच कस्मै मां दास्यति कस्मै मां दास्यसीति। नायं कुमारस्वभाव इति क्रुद्धः सन्पिता तं ह पुत्रं किलोवाच मृत्यवे वैवस्वताय त्वा त्वां ददामीति।। ४।। नचिकेता के इस प्रकार कहने पर, उसके पिता द्वारा उपेक्षा करने पर भी, मुझे किसे दे रहे हैं, मुझे किसे दे रहे हैं इस प्रकार दूसरी और तीसरी बार पूछने पर, पिता ने सोचा कि यह बालक का स्वभाव नहीं है, अतः क्रोधित होकर पिता ने उस नचिकेता पुत्र से कहा कि मैं तुझे मृत्यु को अर्थात् सूर्य के पुत्र यम देवता को देता हूँ।। ४।। इसमें कोई टीका नहीं है।। ४।।

बहूनामेमि प्रथमो बहूनामेमि मध्यमः।
किँस्विद्यमस्य कर्तव्यं यन्मयाऽद्य करिष्यति।। ५।।

बहूनां एमि प्रथमः- अनेक शिष्य और पुत्रों में, मैं प्रथम वृत्ति से आचरण करता हूँ। **बहूनां एमि मध्यमः**-अनेकों में, मैं मध्यम वृत्ति से आचरण करता हूँ। (कदापि अधम वृत्ति का आश्रय नहीं लेता हूँ)। **किं स्वित् अद्य यमस्य कर्तव्यम् यत् मया करिष्यति-** फिर भला यम को मुझे देकर पिताजी आज कौन ऐसा यम का प्रयोजन मेरे द्वारा सिद्ध कराना चाहते हैं।। ५।।

स एवमुक्तः पुत्र एकान्ते परिदेवयांचकार। कथमित्युच्यते। बहूनां शिष्याणां पुत्राणां वैमि गच्छामि प्रथमः सन्मुख्यया शिष्यादिवृत्त्येत्यर्थः। मध्यमानां च बहूनां मध्यमो मध्यमयैव वृत्त्यैमि। नाधमया कदाचिदपि। इस प्रकार पिता जी के द्वारा कहे जाने पर, नचिकेता ने एकान्त में अनुताप करने लगा। किस प्रका अनुताप करने लगा इसे कहते हैं। अनेक शिष्य और पुत्रों में, मैं प्रथम अर्थात् मुख्य शिष्य वृत्ति से आचरण करता हूँ। और बहुतो में मध्यम शिष्य वृत्ति से आचरण करता हूँ। कभी भी अधम वृत्ति का आश्रय नहीं लेता

हूँ। **टीका**– सेवा में प्रवृत्ति मुख्य है। आज्ञा मान कर मध्यम। उन दोनों का परिपालन न करना अधम है। **तमेवं विशिष्टगुणमपि पुत्रं मां मृत्यवे त्वा ददामीत्युक्तवान्पिता। स किंस्विद्यमस्य कर्तव्यं प्रयोजनं मया प्रदत्तेन करिष्यति यत्कर्तव्यमद्य।** ऐसे विशेष गुणवाले मुझ पुत्र को पिता जी ने कहा कि तुझे मृत्यु को दे रहा हूँ। मुझे मृत्यु को सौंपने से वह यम का कौन सा प्रयोजन आज सिद्ध करना चाहते हैं। **टीका**– मुझे दे कर आज यम का जो कर्तव्य करेंगे वह कर्तव्य क्या है, विधान के अभाव है। (अग्नि में आहुति आदि के समान, या ऋत्विजों से दक्षिणा प्रदान के समान, यम को पुत्र का प्रदान याग विधि में न होने से) तो पिता जी ने कैसे कहा कि मैं तुझे यम को देता हूँ। इस पर कहते हैं। **नूनं प्रयोजनमनपेक्ष्यैव क्रोधवशादुक्तवान्पिता।। ५।।** निश्चय हि प्रयोजन की अपेक्षा न रखते हुए क्रोध के कारण पिता जी ने कहा है।। ५।।

अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथाऽपरे।
सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाऽऽजायते पुनः।। ६।।

अनुपश्य यथा पूर्वे– पूर्व पिता, पितामह आदि जिस प्रकार आचरण किये हैं उसे देख कर **प्रतिपश्य तथा अपरे**– और वर्तमान में जो साधु लोक आचरण करते हैं उसे देख कर कि (किसने भी अपने वचन को मिथ्या नहीं किया है), **सस्यं इव मर्त्यः पच्यते**– क्योंकि मरण शील पुरुष खेती की भाँति पकता है अर्थात् मर जाता है **पुनः सस्यं इव आजयते**– और फिर खेती की भाँति हि उत्पन्न होता है। (इस लिए इस अनित्य संसार में वचन की रक्षा करनी चाहिए। अतः मुझे यम देवता के पास भेज कर अपने वचन की रक्षा कीजिए।)

अनुपश्याऽऽलोचय निभालयानुक्रमेण यथा येन प्रकारेण वृत्ताः पूर्वेऽतिक्रान्ताः पितृपितामहादयस्तव। तान्दृष्ट्वा च तेषां वृत्तमास्थातु–मर्हसि वर्तमानाश्चापरे साधवो यथा वर्तन्ते तांश्च प्रतिपश्याऽऽलोचय तथा। न च तेषु मृषाकरणं वृत्तं वर्तमानं वाऽस्ति। तद्विपरीतमसतां च वृत्तं मृषाकरणम्। न च मृषाकृत्वा कश्चिदजरोमरो भवति। यतः

सस्यमिव मर्त्यो मनुष्यः पच्यते जीर्णो म्रियते। मृत्वा च सस्यमिवाऽऽ- जायत आविर्भवति पुनरेवमनित्ये जीवलोके किं मृषाकरणेन। [1]**पालया- ऽऽत्मनः सत्यम्। प्रेषय मां यमायेत्यभिप्रायः।। ६।।** आपके पिता और पितामह आदि ने पहले जिस प्रकार आचरण किये हैं, उस की आलोचना करें या देखें। उन्हें देख कर, उन्हीं के आचरण का पालन आपको करना चाहिए। वैसे अब भी दूसरे साधु लोग जैसे आचरण करते हैं, उन्हें भी देखें। उनमें से पहले या वर्तमान में किसी ने भी अपने वचन को मिथ्या नहीं किया (अर्थात् सभी ने अपने वचन का पालन ही किया है)। उससे विपरीत वचन को मिथ्या करना, यह असाधु पुरुषों का कार्य है। अपने वचन को मिथ्या करके कोई अजर अमर नहीं होता है। क्योंकि फसल के सदृश मरणशील मनुष्य पकता है अर्थात् बूढ़ा हो कर मर जाता है। और मर कर फसल के समान फिर पैदा होता है। इस प्रकार अनित्य जीवलोक में वचन को मिथ्या करने से क्या लाभ। अपने वचन की सत्यता का पालन कीजिए। अभिप्राय यह है कि मुझे यम देवता के पास भेज दीजिए।। ६।। टीका नहीं है ।। ६।। १. पालय आत्मनः सत्यं - क्योंकि श्रुति में कहा है - सत्येन पन्था विततो देवयानः। सत्य से देवयान मार्ग प्रसस्त होता है।

वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिब्राह्मणो गृहान्।
तस्यैताँ शान्तिं कुर्वन्ति हर वैवश्वतोदकम्।। ७।।

वैश्वानरः अतिथिः ब्राह्मणः गृहान् प्रविशति- साक्षात अग्नि ही ब्राह्मण अतिथि रूप में किसी गृह में प्रवेश करता है। **तस्य एतां शान्तिं कुर्वन्ति-** सज्जन पाद्य आसन आदि द्वारा उसके दाह (ताप) की शान्ति करते हैं। **वैवश्वतः उदकं हर-** इसलिए हे सूर्य के पुत्र! इस ब्राह्मण अतिथि के लिए जल ले आओ।। ७।।

टीका- श्रुति में न कहे गये, अपेक्षित पूर्व भाषण आदि का भी कथा में भाष्यकार पूरण करते हैं- **स एवमुक्तः पिताऽऽत्मनः सत्यतायै प्रेषया- मास। स च यमभवनं गत्वा तिस्रो रात्रीरुवास यमे प्रोषिते। प्रोष्या-**

ऽऽगतं यमममात्या भार्या वा ऊचुर्बोधयन्तो वैश्वानरोऽग्निरेव साक्षात्प्रविशत्यतिथिः सन्ब्राह्मणो गृहान्दहन्निव तस्य दाहं शमयन्त इवाग्नेरेतां पाद्यासनादिदानलक्षणां शान्तिं कुर्वन्ति सन्तोऽतिथेर्यतोऽतो हराऽऽहर हे वैवस्वतोदकं नचिकेतसे पाद्यार्थम्। यतश्चाकरणे प्रत्यवायः श्रूयते।। ७।। नचिकेता के इस प्रकार कहने से उसके पिता ने अपनी वचन की सत्यता के लिए नचिकेता को यम के पास भेज दिया। वह यम के भवन जा कर तीन रात रहा (यम की इंतजार करता रहा) क्योंकि यम प्रवास में गये हुए थे। प्रवास से लौटने के बाद यम देवता को उसके मन्त्रियों ने अथवा भार्या ने कहा कि साक्षात अग्नि ही ब्राह्मण अतिथि के रूप घर को जलाते हुए गृह में प्रवेश करता है। सज्जन पुरुष उसके दाह को शान्त करते हुए, अतिथि के लिए यह पाद्य, आसन आदि लक्षण वाली शान्ति करते हैं। इसलिए हे वैवस्वत नचिकेता के पैर धोने के लिए जल ले जाओ। क्योंकि श्रुति का वचन है कि ऐसा न करने पर प्रत्यवाय रूप दोष लगता है।

आशाप्रतीक्षे संगतँ्सूनृतां चेष्टापूर्ते पुत्रपशूँ्श्च सर्वान्। एतद्वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो यस्यानश्नन्वसति ब्राह्मणो गृहे।। ८।।

यस्य गृहे अनश्नन् ब्राह्मणः वसति- जिसके घर में ब्राह्मण भूखा रहता है, **अल्पमेधसः पुरुषस्य-** उस मन्दबुद्धि पुरुष की **आशाप्रतीक्षे संगतं सूनृतां च-** आशा, प्रतीक्षा, सत्संग और प्रिय वचन से होने वाला फल, **इष्टापूर्ते पुत्रपशून् च सर्वान् वृंक्ते-** इष्ट, पूर्त, पशु, पुत्र आदि सब को वह अतिथि नष्ट कर देता है। (अर्थात् ब्राह्मण अतिथि के भूखा रहने पर ये सब नष्ट हो जाते हैं।) ।। ८।।

आशाप्रतीक्षे अनिर्ज्ञातप्राप्येष्टार्थप्रार्थनाऽऽशा निर्ज्ञातप्राप्यार्थ-प्रतीक्षणं प्रतीक्षा ते आशाप्रतीक्षे। संगतं सत्संयोगजं फलं सूनृता हि प्रिया वाक्तन्निमित्तं च। इष्टापूर्ते इष्टं यागादिजं पूर्तमारामादिक्रियाजं

फलम्। पुत्रपशूंश्च पुत्रांश्च पशूंश्च सर्वानेतसर्वं यथोक्तं [1]वृङ्क्त आवर्जयति विनाशयतीत्येतत्। पुरुषस्या[2]ल्पमेधसोऽल्पप्रज्ञस्य। यस्या- [3]नश्नन्नभुंजानो ब्राह्मणो गृहे वसति। तस्मादनुपेक्षणीयः सर्वावस्थास्व- प्यतिथिरित्यर्थः।। ८।। जिस वस्तु की प्राप्ति अज्ञात है अर्थात् अनिश्चित है उस वस्तु की प्रार्थना को आशा कहते हैं, जिस वस्तु की प्राप्ति निर्ज्ञात अर्थात निश्चित है उस की प्रतीक्षा करना प्रतीक्षा कहते हैं। सत्संग का फल को संगत कहते हैं। प्रिय वाणी से होने वाला फल को सुनृत कहते हैं। याग आदि से होने वाला फल इष्ट और धर्मशाला आदि बनाने से होने वाला फल पूर्त है। पुत्र और पशु इन सबको नष्ट कर देता है। अल्पमेधसः अर्थात् मन्दबुद्धि पुरुष के। जिसके घर में ब्राह्मण अतिथि भूखा रहता है। इसलिए सभी अवस्था में उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।। ८।।

इस पर टीका नहीं है ।। ८।। १. वृङ्क्ते- वृजी वर्जने, अदादि इदित् धातु का यह रूप है। २. अल्पमेधसः - अल्पा मेधा यस्य तस्य। ३. अनश्नन् अर्थात् न खा कर। यम की पत्नी या मंत्री आदि द्वारा अनुरोध किये जाने पर भी नचिकेता ने भोजन नहीं किया यह शोच कर कि मेरे वियोग से पीडित मेरे पिता अब तक नहीं खाये होंगे तो मैं कैसे भोजन करूँ।

तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मेऽनश्नन्ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः।
नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन्स्वस्ति मेऽस्तु तस्मात्प्रति त्रीन्वरान्वृ- णीष्व।। ९।।

नमस्यः ब्रह्मन् अतिथिः ते नमः अस्तु- हे नमस्कार के योग्य ब्राह्मण अतिथि! मैं आपको नमस्का करता हूँ। **स्वस्ति मे अस्तु-** मेरा कल्याण होवे। **तिस्रः रात्रीः यत् मम गृहे अनश्नन् अवात्सीः-** जो आपने तीन रात मेरे घर पर भूखे रहे, **तस्मात् प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व-** इसके बदले में मुझसे तीन वरदान माँग लो।। ९।।

एवमुक्तो मृत्युरुवाच नचिकेतसमुपगम्य पूजापुरःसरम्। तिस्रो रात्रीर्यद्यस्मादवात्सीरुषितवानसि गृहे मे मम[1]नश्नन्हे ब्रह्मन्नतिथिः सन् नमस्यो नमस्कारार्हश्च तस्मान्नमस्ते तुभ्यमस्तु भवतु। हे ब्रह्मन्स्वस्ति

भद्रं मेऽस्तु तस्माद्भवतोऽनशनेन मद्गृहवासनिमित्ता[1]द्दोषात्तत्प्राप्त्युप-शमेन। यद्यपि भवदनुग्रहेण [2]सर्वं मम [3]स्वस्ति स्यात्तथाऽपि त्वदधिक-प्रसादनार्थमनशनेनोषितामेकैकां रात्रिं प्रति त्रीन्वरान्वृणीष्वाभिप्रेतार्थ-विशेषान्प्रार्थयस्व मत्तः।। ९।। इस प्रकार पत्नी या अमात्यों के द्वारा कहे जाने पर, यम ने नचिकेता के पास जा कर उसकी पूजा आदि पूर्वक, नचिकेता से कहा। नमस्कार के योग्य हे ब्राह्मण अतिथि! आपने जो तीन रात भूखे रह कर मेरे घर पर निवास किया, आपको मेरा नमस्कार। हे ब्राह्मण! आपके अनशन पूर्वक मेरे गृह में निवास से होने वाले दोष की प्राप्ति के उपशमन के द्वारा मेरा कल्याण हो। यद्यपि आपके अनुग्रह से मेरे सब कल्याण होगा फिर भी आपकी अधिक प्रसन्नता के लिए अनशन के द्वारा निवास किये एक-एक रात के लिए तीन वरों का वरण करो अर्थात् अपने इच्छित वस्तु मुझ से माँग लो।। ९।।

इस पर टीका नहीं है।। ९।। १. दोषात् - प्रत्यवाय रूप दोष से। २. सर्वं - आशा प्रतीक्षा आदि। ३. स्वस्ति स्यात्- सब कुछ मेरे अनुकूल, सुख देने वाले हो।

शान्तसंकल्पः सुमना यथा स्याद्वीतमन्युर्गौतमो माऽभि मृत्यो। त्वत्प्रसृष्टं माऽभिवदेत्प्रतीत एतत्त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे।। १०।।

गौतम मा अभि वीतमन्युः शान्तसंकल्पः सुमना यथा स्यात् (तथा) नचिकेता ने कहा- मेरे पिता गौतम वंशी वाजश्रवा मेरे प्रति क्रोध रहित, संकल्प रहित, प्रशान्त चित्त होकर, **त्वत् प्रसृष्टं मा अभिवदेत्**-आपके द्वारा भेजे गए मुझे पहचान कर मुझ से वार्तालाप करें, **त्रयाणां एतत् प्रथमं वरं वृणे**- यह तीनों में से पहला वर मैं आपसे माँगता हूँ।। १०।।

नचिकतास्त्वाह- यदि दित्सुर्वरान्भगवन् शान्तसंकल्पो उपशान्तः संकल्पो यस्य मां प्रति यमं प्राप्य [1]किंनु करिष्यति मम पुत्र इति स शान्तसंकल्पः सुमनाः प्रसन्नमनाश्च यथा स्या[2]द्वीतमन्युर्विग-

तरोषश्च गौतमो मम पिता माऽभि मां प्रति हे मृत्यो। किंच त्वत्प्र-सृष्टं त्वया विनिर्मुक्तं प्रेषितं गृहं प्रति मा मामभिवदेत्प्रतीतो लब्ध-स्मृतिः स एवायं पुत्रो ममाऽऽगत इत्येवं प्रत्यभिजानन्नित्यर्थः। एतत्प्र-योजनं त्रयाणां वराणां प्रथममाद्यं वरं वृणे प्रार्थये यत्पितुः परितोष-णम्।। १०।। नचिकेता ने कहा- हे मृत्युदेवता! यदि आप वर देना चाहते हैं तो मेरे पिता गौतम के मेरे लिए जो संकल्प (अर्थात् चिन्ता) है कि यम के पास पहूँच कर मेरा पुत्र क्या करेगा? ऐसी चिन्ता शान्त हो जाए। वह मेरे प्रति प्रसन्न हो जाए, तथा उनका क्रोध शान्त हो जाय। और भी आप से मुक्त हुए, आपके द्वारा घर भेजे गये मुझे देख कर, प्रतीत अर्थात् स्मृति को लाभ कर कि वही मेरा पुत्र लौट आया है, (कोई दूसरा नहीं) मेरे पिता जी मुझ से बात करें। तीनों वरों में से पिता की प्रसन्नता रूप यह मेरा प्रथम प्रयोजन है, इस वरदान की प्रार्थना करता हूँ।। १०।।

टीका - प्रेत बनकर यह आया है, इसे देखना नहीं चाहिए, इस प्रकार जान कर मेरी उपेक्षा न करें वैसी कृपा कीजिए।। १०।। १. किंनु करिष्यति - सबको मारने वाले मृत्यु के पास जाकर क्या करेगा? क्या मृत्यु से बचने के लिए यत्न करेगा। किन्तु उसके सामने ऐसा प्रयत्न किसीका भी सफल नहीं होता। यह भाव है। २. वीतमन्युः - मन्युः पुमान् क्रुधि दैन्ये शोके च यज्ञे चेति मेदिनी।

यथा पुरस्ताद्भविता प्रतीत औद्दालकिरारुणिर्मत्प्रसृष्टः।
सुखँ रात्रीः शयिता वीतमन्युस्त्वां ददृशिवान्मृत्युमुखा-त्प्रमुक्तम्।। ११।।

औद्दालकिः आरुणिः सुखं रात्रीः शयिता वीतमन्युः- तब मृत्यु ने कहा- मुझ से अनुज्ञात (प्रेरित) हो कर तुम्हारे पिता अरुण के पुत्र औद्दालक दूसरी (चौथी) रात भी सुख पूर्वक सो कर क्रोध रहित हो कर, **यथा पुरस्तात् प्रतीत भविता मत्प्रसृष्टः त्वां ददृशि-वान्-** पूर्व की भाँति तुमको पहचान कर मृत्यु मुख से छूटे हुए तुझे देखेगा। (टिप्पणी - इससे पता चलता है कि यम की कृपा से वह पहले के तीनों रात भी सुख से सोया है)।। ११।।

मृत्युरुवाच–यथा बुद्धिस्त्वयि पुरस्तात्पूर्वमासीत्स्नेहसमन्विता पितुस्तव भविता प्रीतिसमन्वितिस्तव पिता तथैव प्रतीतः प्रतीतवान्स–न्नौद्दालकिः। उद्दालक एवौद्दालकिः। अरुणस्यापत्यमारुणिर्द्व्यामुष्यायणो वा मत्प्रसृष्टो मयाऽनुज्ञातः स[1]न्नितरा अपि रात्रीः सुखं प्रसन्नमनाः शयिता स्वप्ता बीतमर्न्युर्विगतमन्युश्च भविता स्यात्त्वां पुत्रं ददृशिवा–न्दृष्टवान्स मृत्युमुखान्मृत्युगोचरात्प्रमुक्तं सन्तम्।। ११।। मृत्यु ने कहा – उद्दालक ही औद्दालकि अरुण के पुत्र आरुणि अथवा गोद लिया गया था इस लिए दो पिता वाले तुम्हारे पिता सुख पूर्वक रात सो कर क्रोध रहित, प्रसन्न मन से, तुम्हें पहचान लेगा। तुम्हारे लिए जैसी स्नेह से युक्त बुद्धि पहले थी वैसी स्नेह से समन्वित बुद्धि से युक्त होकर, मृत्यु के मुख से छूटे हुए तुझे देखेगा।। ११।। **टीका** – स्वार्थ में तद्धित प्रयोग कर उद्दालक एव औद्दालकि ऐसा अर्थ भाष्यकार ने किया। अब अपत्य अर्थ में कहते हैं अथवा द्व्यामुष्यायण। अमुक प्रख्यात उद्दालक का पुत्र अमुष्यायण और पहले वचन आदि से गोद दिया गया यह दुसरे अरुण का पुत्र अमुष्यायण है। अर्थात् जारज नहीं है।। ११।। १. इतरा अपि – इससे पहले के तीन रात भी मेरे अनुग्रह से तुम्हारे पिता सुख पूर्वक शयन किया है, यह सूचित होता है।

स्वर्गे लोके न भयं किंचनास्ति न तत्र त्वं न जरया विभेति। उभे तीर्त्वाऽशनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके।। १२।।

स्वर्गे लोके किंचन भय नास्ति– स्वर्गलोक में रोग आदि के कारण कोई भय नहीं है। **न तत्र त्वम्–** वहाँ आप अर्थात् मौत नहीं है। **न जरया विभेति–** बुढापा से युक्त इस लोक की भांति कोई भयभीत नहीं होता है। **उभे अशनायापिपासे तीर्त्वा–** भूख और प्यास दोनों को अतिक्रमण कर **शोकातिगः स्वर्गलोके मोदते–** शोक रहित स्वर्गलोक में हर्षित (सुखी) रहता है। १२।।

टीका – स्वर्ग के साधन [1]अग्निविद्या पूछने के लिए नचिकेता पहले स्वर्ग के स्वरूप का कथन करता है– **नचिकेता उवाच– स्वर्गे लोके**

रोगादिनिमित्तं भयं किंचन किंचिदपि नास्ति। न च तत्र त्वं मृत्यों सहसा प्रभवस्यतो जरया युक्त इह लोकवत्त्वत्तो न बिभेति कश्चि-त्तत्र। किंचोभे अशनायपिपासे तीर्त्वाऽतिक्रम्य शोकमतीत्य गच्छतीति शोकातिगः सन्मानसेन दुःखेन वर्जितो मोदते हृष्यति स्वर्गलोके दिव्ये।। १२।। नचिकेता ने कहा – स्वर्ग लोक में रोग आदि निमित्त से कुछ भी भय नहीं है। वहाँ आप मृत्यु सहसा प्रवृत्त नहीं होते, इसलिए बुढापा से युक्त इस लोक के समान वहाँ कोई आप से भयभीत नहीं होता है। और भी भूक और प्यास का अतिक्रमण कर शोक रहित हो कर मानसिक दुःखों से रहित होकर हर्षित (सुखी) होता है।। १२।। १.स्वर्गसाधनमग्निज्ञानं – जो पिता के द्वारा अग्नि कर्म में लोभ के कारण दक्षिाणा रूप अंग में विगुणता प्राप्त हुई उसे मैं यमदेवता से अग्नि विद्या को प्राप्त कर उस विगुणता से प्राप्त दोष का मार्जन करूँगा। क्योंकि कहा गया है 'स य धनेन किंचिदक्षणयाऽकृतं भवति तस्मादेनं सर्वस्मात्पुत्रो मुंचतीति।' वह जो कुछ धनके कारण कोणच्छिद्र से अर्थात् याग एकदेश में गलत किया गया है उन सब से पुत्र मुक्त कराता है।

स त्वमग्नि ँ्स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि त्व ँ्श्रद्दधानाय मह्यम्। स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त एतद्द्वितीयेन वृणे वरेण।। १३।।

मृत्योः सः त्वं स्वर्ग्यं अग्निं अध्येषि– हे मृत्यु! आप उस स्वर्ग के साधन अग्निविद्या को जानते हो। **श्रद्दधानाय मह्यं त्वं प्रब्रूहि–** मुझ श्रद्धालु को आप उस अग्नि विद्या का उपदेश कीजिए। **स्वर्गलोकाः अमृतत्वं भजन्ते–** स्वर्ग के निवासी यजमान अमरत्व को प्राप्त होते हैं। **द्वितीयेन वरेण एतत् वृणे–** उस अग्निविद्या को द्वितीय वर से मैं प्रार्थना करता हूँ।। १३।।

एवंगुणविशिष्टस्य स्वर्गलोकस्य प्राप्तिसाधनभूतमग्निं स त्वं मृत्युरध्येषि स्मरसि जानासीत्यर्थः। हे मृत्यो यतस्त्वं प्रब्रूहि कथय श्रद्दधानाय श्रद्धावते मह्यं स्वर्गार्थिने। येनाग्निना चितेन स्वर्गलोकाः स्वर्गो लोको येषां ते स्वर्गलोका यजमाना अमृतत्वममरणतां देवत्वं

भजन्ते प्राप्नुवन्ति तदेतदग्निविज्ञानं द्वितीयेन वरेण वृणे।। १३।। क्योंकि कहे गये गुण वाले स्वर्ग लोक के प्राप्ति साधन अग्निविद्या को आप मृत्यु जानते हो। इसलिए हे मृत्यु मुझ स्वर्ग की इच्छा वाले तथा श्रद्धा से युक्त (अधिकारी) को आप उपदेश कीजिए। जिस अग्नि का चयन कर के यजमान लोग अमरण धर्मवाले देवत्व को प्राप्त करते है, उस अग्नि-विज्ञान को द्वितीय वर से प्रार्थना करता हूँ।। १३।।

इस पर टीका नहीं है।। १३।।

प्रते ब्रवीमि तदु मे निबोध स्वर्ग्यमग्निं नचिकेतः प्रजानन्। अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां विद्धि त्वमेतं निहितं गुहायाम्।। १४।।

नचिकेतः स्वर्ग्यं अग्निं प्रजानन् ते प्रब्रवीमि- हे नचिकेता! उस स्वर्ग के प्राप्ति का साधन अग्नि विद्या को जानते हुआ मैं तुझे अच्छी प्रकार से कहूँगा। **तत् उ मे निबोध-** तुम सावधान होकर मुझसे यह समझो। **अनन्तलोकाप्तिं अथः प्रतिष्ठां विद्धि-**यह अग्नि अनन्त लोक अर्थात् स्वर्ग लोक की प्राप्ति का साधन है। यह अग्नि विराट रूप से सबकी प्रतिष्ठा है। **त्वं एतं गुहायां निहितं विद्धि-** समझो कि यह अग्निविद्या विद्वानों की बुद्धि रूप गुहा में छिपा हुआ है।। १४।।

मृत्योः प्रतिज्ञेयम्। यह मृत्यु देवता की प्रतिज्ञा है। टीका - यह आगे कहे जाने वाली मृत्यु की प्रतिज्ञा समझना चाहिए। **प्र ते तुभ्यं प्रब्रवीमि यत्त्वया प्रार्थितं तदु मे मम वचसो निबोध बुध्यस्वैकाग्रमनाः सन्स्वर्ग्यं स्वर्गाय हितं स्वर्गसाधनमग्निं हे नचिकेतः प्रजानन्विज्ञातवान्सन्नहमि-त्यर्थः।** हे नचिकेता! तुमने जिसकी प्रार्थना की थी उस अग्निविद्या को जानता हुआ मैं तुझे कहता हूँ। उसे तुम एकाग्र मन से मेरे वचन से समझ लो। वह अग्निविद्या स्वर्ग के हितकर तथा स्वर्ग की प्राप्ति का साधन है। **प्रब्रवीमि तन्निबोधेति च शिष्यबुद्धिसमाधानार्थं**

वचनम्। प्रब्रवीमि और तन्निबोध इन दोनों शब्द का प्रयोग शिष्य की बुद्धि को समाहित करने के लिए है। **अधुनाऽग्निं स्तौति। अनन्तलोकाप्तिं स्वर्गलोकफलप्राप्तिसाधनमित्येतत्। अथो अपि प्रतिष्ठामाश्रयं जगतो विराड्रूपेण तमेतमग्निं मयोच्यमानं विद्धि जानीहि त्वं निहितं स्थितं गुहायां विदुषां बुद्धौ निविष्टमित्यर्थः।। १४।।** अब अग्नि की स्तुति करते हैं। यह अनन्त लोक की अर्थात् स्वर्गलोक रूप फल की प्राप्ति का साधन है। और भी प्रतिष्ठा है अर्थात् विराट रूप से संसार का आश्रय है। मेरे द्वारा कहे गये उस अग्निविद्या को तुम विद्वानों की बुद्धि रूप गुहा में स्थित जानो।। १४।।

टीका - **'[1]स त्रेधाऽऽत्मानं व्यकुरुत'** इस श्रुति से अग्नि, वायु और आदित्य रूप से समष्टि रूप विराट ही अवस्थित है, इससे उस विराट रूप से अग्नि जगत की प्रतिष्ठा है, यह कहा जाता है।। १४।। १. वह अर्थात् विराट्।

लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै या इष्टका यावतीर्वा यथा वा। स चापि तत्प्रत्यवदद्यथोक्तमथास्य मृत्युः पुनरेवाऽऽह तुष्टः।। १५।।

तं लोकादिं अग्निं तस्मै उवाच- तदनन्तर यम देवता ने उस लोकों के आदि कारण अग्नि- विद्या को उस नचिकेता से कहा। **या इष्टका यावतीः वा यथा वा-** और उस अग्नि के चयन में जैसी और जितनी ईंटे होती है तथा जिस प्रकार उनका चयन किया जाता है, उसका भी कथन किया। **सः च अपि तत् यथोक्तं प्रत्यवदत्-** नचिकेता ने कहे गये विधि को जैसे के तैसे यम देवता के सामने सुना दिया। **अथ मृत्युः अस्य तुष्टः पुनः एव आह-** इसके बाद (अस्य तुष्टः) इस प्रत्युच्चारण से संतुष्ट मृत्यु देवता ने फिर से कहा।। १५।।

टीका- (शतपथ आदि ब्राह्मण ग्रन्थ में स्थित कात्यायन आदि महर्षियों द्वारा कहे गये श्रौतसूत्र आदि में कहे गये) चयन प्रकरण से विस्तार पूर्वक अग्नि का ज्ञान देखना चाहिए इसे श्रुति हमें समझा रही है- **इदं श्रुते-**

र्वचनम्। 'लोकादिमग्निं' इत्यादि श्रुति का वचन है। **लोकादिं लोकानामादिं प्रथमशरीरित्वादग्निं तं प्रकृतं नचिकेतसा प्रार्थितमुवाचोक्तवान्मृत्युस्तस्मै नचिकेतसे।** प्रसंग से प्राप्त, प्रथम शरीरि होने से लोक के आदि अग्नि को, अर्थात् अग्निविद्या को, मृत्यु देवता ने नचिकेता से कहा, जिसे नचिकेता ने जानने के लिए प्रार्थना की थी। **किंच या इष्टकाश्चेतव्याः [1]स्वरूपेण। यावतीर्वा संख्यया। यथा वा [2]चीयतेऽग्निर्येन प्रकारेण सर्वमेतदुक्तवानित्यर्थः।** और भी जितनी इंटे (द्रोण रथचक्र आदि) स्वरूप से चयन करना चाहिए, जितनी संख्या में तथा जिस प्रकार से अग्नि संस्थापित होता हैं, उन सारी बातों को यम देवता ने नचिकेता से कहा। **स चापि नचिकेतास्तन्मृत्युनोक्तं यथावत्[3]प्रत्ययेनावदत्प्रत्युच्चारितवान्।** वह नचिकेता उस मृत्यु द्वारा कहे गये रहस्य को समझ कर ज्यों का त्यों सुना दिया। **अथास्य प्रत्युच्चारेण तुष्टः सन्मृत्युः पुनरेवाऽऽह वरत्रयव्यतिरेकेणान्यं वरं दित्सुः।। १५।।** तत्पश्चात् उस नचिकेता के प्रत्युचारण से संतुष्ट हुए मृत्यु देवता ने तीनों वर से अतिरिक्त वर देने की इच्छा से नचिकेता से कहा।। १५।। १. स्वरूपेण – स्वरूप से अर्थात् द्रोण, रथचक्र आदि स्वरूप से। अथवा तिर्यक् ऊर्ध्व आदि परिमाण भेद से चयन करने वाले ईट जैसी होनी चाहिए। २. चीयते – आधीयते संस्थाप्यते। आधान या स्थापना की जाती है। ३. प्रत्ययेन – निश्चय पूर्वक। लिखित पुस्तक में प्रत्येन अवदत् के स्थान पर प्रत्यवदत् यह पाठ है। मूल के अनुरोध से यह सही मालूम पडता है।

तमब्रवीत्प्रीयमाणो महात्मा [1]वरं तवेहाद्य ददामि भूयः। तवैव नाम्ना भविताऽयमग्निः सृङ्कां चेमामनेकरूपां गृहाण।। १६।।

प्रीयमाणः महात्मा तं अब्रवीत्– प्रसन्न हुए महात्मा यम ने उस नचिकेता से कहा– **इह अद्य तव भूयः वरं ददामि–** अब मैं तुझे फिर से चौथा वरदान देता हूँ। **अयं अग्निः तव एव नाम्ना भविता–** यह अग्निविद्या तेरे नाम से जाना जाएगा। **अनेकरूपां च**

इमां सृंकां गृहाण– अनेक रूप वाला यह रत्न की माला ग्रहण करो।। १६ ।।

कथम्। तं नचिकेतसमब्रवीत्प्रीयमाणः शिष्ययोग्यतां पश्यन्प्रीय-माणः प्रीतिमनुभवन्महात्माऽक्षुद्रबुद्धिर्वरं तव चतुर्थमिह प्रीतिनिमित्तम-द्येदानीं ददामि भूयः पुनः प्रयच्छामि। यम देवता ने किस प्रकार कहा इसे कहते हैं। शिष्य की योग्यता को देख कर प्रसन्नता को अनुभव करते हुए, महात्मा अर्थात् विशाल हृदय यम देवता ने नचिकेता से कहा कि प्रसन्नता के कारण, इस समय, मैं फिर से तुझे चौथा वरदान देता हूँ। **तवैव नचिकेतसो नाम्नाऽभिधानेन प्रसिद्धो भविता मयोच्यमानोऽयमग्निः।** मेरे कहे गये यह अग्निविद्या आज से तेरे अर्थात् नचिकेता के नामसे ही प्रसिद्ध होगा। **किंच सृङ्कां [२]शब्दवतीं रत्नमयीं मालामिमामनेकरूपां विचित्रां गृहाण स्वीकुरु।** और भी यह सृङ्का अर्थात् शब्दवाली रत्नमयी अनेकरूप वाली अर्थात् विचित्र इस माला को ग्रहण करो। **यद्वा सृङ्कामकुत्सितां गतिं कर्ममयीं गृहाण। अन्यदपि कर्मविज्ञानमनेकफलहेतुत्वात्स्वीकुर्वित्यर्थः।। १६ ।।** अथवा सृङ्का अर्थात् निन्दारहित गति वाली इस कर्ममयी दूसरी विद्या को ग्रहण कर अर्थात् अनेक फल के हेतु होने से इस दूसरे कर्मविज्ञान को भी स्वीकार कर।। १६ ।। १. वरं – पिता का सौमनस्य रूप फल पिता को प्राप्त होगा। वह तुम्हारे लिए तीनों वरदान के अन्दर नहीं आता है, इसलिए चौथा वरदान देता हूँ। २. 'तद्यथाऽनः ...यत्रैतदूर्ध्वो- च्छ्वासी भवति' श्रुति में सृजि धातु शब्द अर्थ वाला प्रसिद्ध है, इससे शब्दवती अर्थ किया गया है। आगे यमराज 'नैतां सृङ्कां वित्तमयी' कहेंगे, इससे रत्नमयी अर्थ किया गया है। सृजि धातु से निष्पन्न स्रक् शब्द माला वाचक है, इससे माला अर्थ है। स्रकि गतौ इस धातु से अकुत्सित गति वाला कर्मविज्ञान अर्थ किया गया है।

त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य संधिं त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यू। ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा निचाय्येमाँ शान्तिमत्यन्तमेति।। १७ ।।

त्रिणाचिकेतः– नाचिकेत अग्नि का तीन बार चयन करने वाला अथवा उसकी उपासना, अध्ययन और अनुष्ठान करने वाला; **त्रिभिः संधिं एत्य–** संधि अर्थात् माता, पिता और आचार्य के सबन्ध को प्राप्त करने वाला, अर्थात् उनसे अनुशासित; **त्रिकर्मकृत्–** यज्ञ, अध्ययन और दान रूप तीनों कर्मों को करने वाला; **जन्ममृत्यूं तरति–** जन्म और मृत्यु को पार कर जाता है। **इमां ब्रह्मजज्ञं देवं ईड्यं विदित्वा निचाय्य अत्यन्तं शान्तिं एति–** हिरण्यगर्भ से उत्पन्न, सर्वज्ञ, देव अर्थात् प्रकाशमान् स्तुति के योग्य अग्नि को जान कर और इसका चयन कर अत्यन्त शान्ति को प्राप्त करता है।। १७।।

पुनरपि कर्मस्तुतिमेवाऽऽह– त्रिणाचिकेतस्त्रिः कृत्वो नाचिकेतोऽग्निश्चितो येन स त्रिणाचिकेतस्तद्विज्ञानस्तदध्ययनस्तदनुष्ठानवान्वा। फिर भी कर्म की स्तुति करते हैं – जिसने नाचिकेत अग्नि का तीन बार चयन किया है, वह त्रिणाचिकेत है। अथवा नाचिकेत अग्नि का ज्ञान, अध्ययन और अनुष्ठान करने वाला त्रिणाचिकेत है। **त्रिभिर्मातृपित्राचार्यैरेत्य प्राप्य संधिं संधानं सम्बन्धं मात्राद्यनुशासनं यथावत्प्राप्येत्येतत्।** तथा जिसने माता, पिता और आचार्य का संबन्ध प्राप्त किया है अर्थात् सही अनुशासन प्राप्त किया है। **तद्धि प्रामाण्यकारणं श्रुत्यन्तरादवगम्यते।** क्योंकि वही प्रमाणता में कारण है, यह अन्य श्रुति से जाना जाता है। **"यथा मातृमान्पितृमान्" (बृ. ४.१.२) इत्यादेः।** बृहदारण्यक श्रुति में कहा है 'जैसे माता, पिता आचार्य से अनुशासित जानता है'। इत्यादि श्रुति इसमें प्रमाण है। **वेदस्मृतिशिष्टैर्वा प्रत्यक्षानुमानागमैर्वा।** अथवा वेद, स्मृति और शिष्ट वचन अथवा प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम यह तीन संधि है। **तेभ्यो हि <u>विशुद्धिः</u> प्रत्यक्षा।** इनसे धर्म आदि का ज्ञान प्रत्यक्ष देखा जाता है। टीका – विशुद्धि अर्थात् धर्म आदि का ज्ञान। **त्रिकर्मकृदिज्याध्ययनदानानां कर्ता तरत्यतिक्रामति जन्ममृत्यू।** यज्ञ, अध्ययन और दान, इन तीन प्रकार के कर्मो को करने वाला, जन्म और मृत्यु को पार कर जाता है अर्थात् अतिक्रमण करता है। (जिसने तीन बार नाचिकेत

अग्नि का चयन किया है, तीन संधिं को प्राप्त किया है और तीन कर्मों का संपादन किया है वह जन्ममृत्यू को तर जाता है।) [1]**किंच ब्रह्मजज्ञं ब्रह्मणो हिरण्यगर्भाज्जातो ब्रह्मजः। ब्रह्मजश्चासौ ज्ञश्चेति ब्रह्मजज्ञः सर्वज्ञो ह्यसौ। तं देवं द्योतनाज्**[2]**ज्ञानादिगुणवन्तमीड्यं स्तुत्यं विदित्वा गृहीत्वा शास्त्रतो निचाय्य दृष्ट्वा चाऽऽत्मभावेनेमां स्वबुद्धिप्रत्यक्षां शान्तिमुपरतिमत्यन्तमेत्यतिशयेनैति।** ब्रह्म अर्थात् हिरण्यगर्भ, उससे उत्पन्न ब्रह्मज। जो ब्रह्मज है और ज्ञ है वह ब्रह्मजज्ञ अग्नि है। वह अग्नि सर्वज्ञ है। वह प्रकाशवान् होने से देव है। उस ज्ञान आदि गुण वाले को ईड्य अर्थात् स्तुति के योग्य उस देव को शास्त्र से जान कर, उसका चयन (अनुष्ठान) कर, देख कर अर्थात् अपनी बुद्धि से आत्मभाव से साक्षात्कार कर, अत्यन्त शान्ति को अर्थात् अतिशय उपरामता को (विशेष सूख को) प्राप्त करता है। **टीका** - दृष्ट्वा चात्मभावेन का यह अर्थ है- ईटों की संख्या ७२० है और एक वर्ष में दिन रात मिलाकर ७२० होते हैं। संख्या की समानता से उन ईटों के स्थानापन्न चयन किया गया अग्नि मैं हूँ, इस आत्मभाव से ध्यान कर। **वैराजं पदं ज्ञानकर्मसमुच्चयानुष्ठानेन प्राप्नोतीत्यर्थः।। १७।।** अर्थात् ज्ञान और कर्म के समुच्चय से विराट की पदवी को प्राप्त करता है।। १७।।

१. पूर्वार्ध से फल सहित कर्म का कथन करके अब फल सहित उपासना का कथन करते हैं किंच इत्यादि से। २. ज्ञानादिगुणवन्तम् - हेतु गर्भित विशेषण है। ज्ञानादिगुणवाला होने से स्तुति के योग्य है।

त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद्विदित्वा य एवं विद्वाँश्चिनुते नाचिकेतम्। स मृत्युपाशान्पुरतःप्रणोद्य शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके।। १८।।

त्रयं एतत् विदित्वा कैसे ईंट, कितनी संख्या और किस प्रकार चयन, इन तीनों को जान कर **त्रिणाचिकेतः-** जो तीन बार नाचिकेत अग्नि का चयन करता है, **यः एवं विद्वान् नाचिकेतं चिनुते-** वह यदि आत्मा से नाचिकेत अग्नि को अभिन्न जान कर

नाचिकेत अग्नि का चयन करता है। अर्थात् उपासना के साथ कर्म करता है। **पुरतः मृत्युपाशात् प्रणोद्य** शरीर छोडने से पहले वह मृत्यु के पाशों से छूट कर **शोकातिगः स्वर्गलोके मोदते**– शोक से रहित स्वर्गलोक में आनन्दित होता है।। १८।।

इदानीमग्नि[1]विज्ञानचयनफलमुपसंहरति [2]प्रकरणं च। अब अग्नि विज्ञान, चयन और फल का उपसंहार करते हैं प्रकरण का भी उपसंहार करते हैं। **त्रिणाचिकेतस्त्रयं यथोक्तं या इष्टका यावतीर्वा यथा वेत्येतद्विदित्वाऽवगम्य यश्चैवमात्मरूपेणाग्निं [3]विद्वांश्चिनुते निवर्तयति नाचिकेतमग्निं क्रतुं स मृत्युपाशानधर्माज्ञानरागद्वेषादिलक्षणान्पुरतोऽग्रतः पूर्वमेव शरीरपातादित्यर्थः। प्रणोद्यापहाय शोकातिगो मानसैर्दुःखैर्वर्जित इत्येतत्। मोदते स्वर्गलोके वैराजे विराडात्मस्वरूपप्रतिपत्त्या।। १८।।** इस नाचिकेत अग्नि के चयन में जो ईटे, जितनी होनी चाहिए और जिस प्रकार अनुष्ठान करना चाहिए, इन तीनों कहे गये वातों को जो जानकर, और जो अपनी आत्मा से अभिन्न इस अग्नि की उपासना करते हुए नाचिकेत अग्नि का अर्थात् यज्ञ का अनुष्ठान करता है, वह साधक देहपात से पूर्व अधर्म, अज्ञान, राग–द्वेष लक्षण वाले मृत्यु के पाश से छूट कर शोक से अर्थात् मानसिक दुःखों से रहित होकर, विराट आत्मा स्वरूप प्राप्ति के द्वारा वैराज रूप स्वर्गलोक में आनन्दित होता है।। १८।।

१. विज्ञानचयन अर्थात् उपासना और कर्म। २. प्रकरण– स्वर्ग अग्नि प्रकरण। कर्म और उपासना के समुच्चय का प्रकरण यह अर्थ है। ३. विद्वांन् अर्थात् उपासना करने वाला।

एष तेऽग्निर्नचिकेतः स्वर्ग्यो यमवृणीथा द्वितीयेन वरेण। एतमग्निं तवैव प्रवक्ष्यन्ति जनासस्तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व।। १९।।

नचिकेतः यं द्वितीयेन वरेण अवृणीथा– हे नचिकेता! तूने जिसे दूसरे वर से वरण किया था, **एषः ते स्वर्ग्यः अग्निः**– यह वह स्वर्ग का साधन अग्निविद्या है जो मैंने तुझे कहा। **जनासः एतं**

अग्निं तवैव (नाम्ना) प्रवक्ष्यन्ति– अब लोग इस अग्निविद्या को तेरे नाम से कहेंगे। अर्थात् नाचिकेत अग्नि कहेंगे। **नचिकेतः तृतीयं वरं वृणीष्व–** हे नचिकेता! अब तीसरा बर माँग।। १६।।

एष ते तुभ्यमग्निर्वरो हे नचिकेतः स्वर्ग्यो यमग्निं वरमवृ–णीथाः प्रार्थितवानसि द्वितीयेन वरेण सोऽग्निर्वरो दत्त इत्युक्तोप–संहारः। हे नचिकेता! यह स्वर्ग प्राप्ति का साधन अग्निविद्या रूप वर है जिस अग्निविद्या रूप वर को तुमने दूसरे वरदान से प्रार्थना की थी। वह अग्नि वर मैंने तुझे दे दिया। इस प्रकार पहले कहे गये अग्निविद्या का उपसंहार कर दिया गया। **किंचैतमग्निं तवैव नाम्ना प्रवक्ष्यन्ति जनासो जना इत्येतदेष वरो दत्तो मया चतुर्थ–स्तुष्टेन। तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व। तस्मिन्ह्यदत्त ऋणवानहमित्य–भिप्रायः।। १६।।** और भी लोग इस अग्निविद्या को तुम्हारे नाम से पुकारेंगे, यह चौथा वरदान भी मैंने तुझ पर प्रसन्न होकर दिया है। हे नचिकेता! अब तीसरा वर माँग ले, क्योंकि उसे न देने पर मैं तुम्हारा ऋणी बना रहूँगा, यह अभिप्राय है।। १६।।

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके। एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाऽहं वराणामेष वरस्तृतीयः।। २०।।

प्रेते या इयं मनुष्ये विचिकित्सा– मरने के बाद यह जो लोगों में संशय होता है, **एके अस्ति इति एके न अयं अस्ति इति–** कुछ कहते हैं आत्मा रहता है और कुछ कहते हैं नहीं रहता है। शरीर नाश के साथ नष्ट हो जाता है। **त्वया अनुशिष्टः अहं एतत् विद्याम्–** आप से उपदेश प्राप्त कर, मैं इसका रहस्य जानना चाहता हूँ, **एषः वराणां तृतीयः वरः–** यह मेरा वरों में तीसरा वर है।। २०।।

टीका – जो दोनों वरों से सूचित पिता–पुत्र के स्नेह आदि वाला स्वर्ग लोक पर्यन्त संसार का स्वरूप है, वह ही कर्मकाण्ड से पतिपाद्य आत्मा में अध्यारोपित है, उसका निवर्तक आत्मज्ञान है, इस प्रकार अध्यारोप और अपवाद रूप से पूर्व और उत्तर ग्रन्थ का संबन्ध है, इसे भाष्यकार कहते हैं–

एतावद्व्यतिक्रान्तेन विधिप्रतिषेधेन मन्त्रब्राह्मणेनावगन्तव्यं यद्वरद्वय-सूचितं वस्तु नाऽऽत्मतत्त्वविषयं याथात्म्यविज्ञानम्। बीते दोनों वरदानों से सूचित विधि और प्रतिषेध के द्वारा, मंत्र और ब्राह्मण ग्रन्थों से प्रतिपादित इतनी वस्तु है। यह आत्मतत्त्व को विषय करने वाला यथार्थ आत्मविज्ञान नहीं है। **अतो विधिप्रतिषेधार्थविषयस्याऽऽत्मनि क्रियाकारकफलाद्यध्यारोपणलक्षणस्य [१]स्वाभाविकस्याज्ञानस्य संसार-बीजस्य निवृत्त्यर्थं तद्विपरीतब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानं क्रियाकारकफलध्या-रोपणलक्षणशून्यमात्यन्तिकनिःश्रेयसप्रयोजनं वक्तव्यमित्युत्तरो ग्रन्थ आरभ्यते।** इसलिए विधि-प्रतिषेध का विषय, आत्मा में क्रिया-कारक -फल आदि अध्यारोप लक्षण वाले संसार के बीज स्वाभाविक अज्ञान की निवृत्ति के लिए, उसके विपरीत क्रिया-कारक-फल के अध्यारोप लक्षण से शून्य, आत्यन्तिक (चिरस्थायी) निःश्रेयस (मोक्ष) प्रयोजन वाला ब्रह्म और आत्मा का ऐक्य विज्ञान का कथन करना चाहिए, इससे आगे का ग्रन्थ आरंभ होता है। १. स्वाभाविकस्याज्ञानस्य- अविद्या से होने वाला कार्य का। **टीका** - प्रथम वल्ली समाप्त पर्यन्त आख्यायिका का अवान्तर संबन्ध कहते हैं- **तमेतमर्थं द्वितीयवरं प्राप्याऽप्यकृतार्थत्वं तृतीयवरगोचरमात्मज्ञानमन्तरेणेत्याख्यायिकया प्रपंचयति** - तृतीय वर का विषय आत्मज्ञान के बिना द्वितीय वर प्राप्त करने पर भी अकृतार्थ ही रहा,इसी बात को आख्यायिका के द्वारा विस्तार पूर्वक कहते हैं। **यतः पूर्वस्मात्कर्मगोचरात्साध्यसाधनलक्षणादनित्याद्विरक्तस्या-ऽऽत्मज्ञानेऽधिकार इति तन्निन्दार्थं [१]पुत्राद्युपन्यासेन प्रलोभनं क्रियते।** क्योंकि पूर्व साध्य-साधन लक्षण वाले अनित्य कर्म के विषयों से विरक्त का ही आत्मज्ञान में अधिकार है, इसलिए कर्म की निन्दा के लिए पुत्र आदि के उपन्यास से प्रलोभन किया जाता है। १. पुत्राद्युपन्यासेन- 'शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व' इत्यादि से। **नचिकेता उवाच तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्वेत्युक्तः सन्।** हे नचिकेता! तीसरा वर माँगो, ऐसे कहे जाने पर, नचिकेता ने कहा। **येयं विचिकित्सा [१]संशयः प्रेते मृते मनुष्येऽस्तीत्येकेऽस्ति शरीरेन्द्रियमनोबुद्धिव्यतिरिक्तो देहान्तरसम्ब-**

न्ध्यात्मेत्येके नायमस्तीति चैके नायमेवंविधोऽस्तीति चैके– मरने के बाद शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि से अतिरिक्त, देहान्तर से संबन्ध वाला आत्मा है, ऐसे कुछ (वैदिक) लोग मानते हैं; इस प्रकार के आत्मा नहीं है, ऐसे दूसरे (नास्तिक चार्वाक आदि) लोग मानते हैं, लोगों में यह जो संशय है; १. संशयः– आत्मा देहादि से भिन्न है या नहीं। **टीका–** देह से अतिरिक्त आत्मा के अस्तित्व में वादियों के विरुद्ध प्रतिपत्ति से यदि संशय है तो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से अपना निर्णय हो सकता है इसलिए उसका निर्णय निष्प्रयोजन है, इससे प्रश्न नहीं करना चाहिए ऐसी आशंका होने पर कहते हैं– **अतश्चास्माकं न प्रत्यक्षेण नापि वाऽनुमानेन निर्णयविज्ञानम्।** इसलिए न प्रत्यक्ष से न अनुमान से हमारा कोई निर्णायक ज्ञान हो रहा है। टीका– प्रत्यक्ष से स्थाणु का निर्णय हो जाने पर पुरुष है या नहीं है, ऐसा संदेह देखने को नहीं मिलता है, किन्तु इससे विपरीत आत्मा के अस्तित्व में संदेह देखा जाता है, इसलिए प्रत्यक्ष से निर्णय नहीं हो सकता है। और भी परलोक संबन्धि आत्मा की सिद्धि में किसी हेतु का अभाव होने से अनुमान से उसका निर्णय नहीं हो सकता है।
एतद्विज्ञानाधीनो हि परः पुरुषार्थ इत्यत एतद्विद्यां विजानीयामह–मनुशिष्टो ज्ञापितस्त्वया। वराणामेष वरस्तृतीयोऽवशिष्टः।। २०।। और इसी विज्ञान के अधीन परम पुरुषार्थ है। इसलिए आपसे उपदेश प्राप्त करके इसी विद्या को मैं जान सकूँ, यह वरों में बचा हुआ तीसरा वर है।। २०।।

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा न हि सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः। अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व मा मोपरोत्सीरति मा सृजैनम्।। २१।।

अत्र पुरा देवैः अपि विचिकित्सितम्– नचिकेता के पूछने पर यमदेवता ने कहा– इस विषय में पहले देवताओं को भी संदेह हुआ था। **अणु एषः धर्मः न हि सुविज्ञेयम्–** क्योंकि अत्यन्त सूक्ष्म होने से यह आत्मा अच्छी तरह से जानने योग्य नहीं है। **नचिकेतः अन्यं वरं वृणीष्व–** इसलिए हे नचिकेता! तू और कोई वर की प्रार्थना

कर। **मा मा उपरोत्सीः**– मुझे मजबूर ना कर। **एनं मा अतिसृज**– इसे तू मेरे लिए छोड़ दे।। २१।।

किमयमेकान्ततो निःश्रेयससाधनात्मज्ञानार्हो न वेत्येतत्परीक्षणार्थमाह– [1]देवैरप्यत्रैतस्मिन्वस्तुनि विचिकित्सितं संशयितं पुरा पूर्वं न हि सुविज्ञेयं सुष्टु विज्ञेयं श्रुतमपि [2]प्राकृतैर्जनैर्यतोऽणुः सूक्ष्म एष आत्माख्यो [3]धर्मोऽतोऽन्यमसंदिग्धफलं वरं नचिकेतो वृणीष्व मा मां मोपरोत्सीरुपरोधं मा कार्षीरधमर्णमिवोत्तमर्णः। अतिसृज विमुंचैनं वरं मा मां प्रति।। २१।। क्या यह नचिकेता नितान्त (पूर्णरूप से) मोक्ष के साधन आत्मज्ञान प्राप्त करने के योग्य है या नहीं, इस बात की परीक्षा के लिए यमदेवता ने कहा– इस आत्म वस्तु के विषय में पहले देवताओं ने भी संशय किया था। अर्थात् देवता का संशय था। श्रवण करने पर भी साधारण मनुष्यों के लिए यह अच्छी प्रकार से जानना संभव नहीं है क्योंकि आत्मा नामक यह धर्म अत्यन्त सूक्ष्म है। इसलिए हे नचिकेता! सन्देह रहित फल वाला कुछ और वर माँगो। जैसे ऋण देने वाला ऋण लेने बाले को दबाता या मजबूर करता है वैसे मुझे मजबूर न कर। (क्योंकि वर दे कर मैं तुम्हारा ऋणी हूँ।) इस वर को तू मेरे लिए हि छोड़ दे। (मेरे लिए छोड़ दे का क्या अर्थ है। मैं सोचता हूँ कि इससे भिन्न कोई दूसरा वर माँग ले अथवा इस वर को तू मुझ पर छोड़ दे कि मैं अपने ढंग से तुझे तीसरा वर दूँ।)।। २१।। १. देवैरत्रापि – देवताओं का भी संशय था अर्थात् वे शीघ्र नहीं समझ सके, इससे यह ध्वनित होता है कि फिर हमारी बुद्धि से यह कैसे सिद्ध होगा। अर्थात् इसकी उपेक्षा कर देनी चाहिए। २. प्राकृतैर्जनैः – इससे ध्वनित होता है कि देवता संशय के बाद विचार करके जाना था। ३. आत्माख्यो धर्म – तुम बालक हो तुम्हें धर्म से क्या लेना देना है। आत्मा नाम वाला धर्म अर्थात् आत्मा सब को धारण करता है इसलिए वह धर्म है। कहा है 'अक्षरमम्बरान्तधृतेः'। अक्षर ब्रह्म आकाश पर्यन्त सब को धारण करता है।

देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल त्वं च मृत्यो यन्न सुविज्ञेयमात्थ। वक्ता चास्य त्वादृग्न्यो न लभ्यो नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित्।। २२।।

अत्र देवैः अपि विचिकित्सितम्– नचिकेता ने कहा– इस आत्मा के विषय में देवताओं को भी संशय हुआ था। **मृत्योः त्वं च न सुविज्ञेयं आत्थ–** आप भी कहते हैं कि यह अच्छि तरह से जानने योग्य नहीं है। **अस्य च वक्ता त्वादृक् अन्यः न लभ्यः–** इस आत्मतत्त्व का आप जैसे वक्ता अर्थात् गुरु कोई दूसरा नहीं मिल सकता है, **एतस्य वरः तुल्यः न अन्यः कश्चित्–** तथा इस वर के सदृश कोई दूसरा वर भी नहीं हो सकता।। २२।।

एवमुक्तो नचिकेता आह– देवैरत्राप्येतस्मिन्वस्तुनि विचिकित्सितं [1]किलेति भवत एव नः श्रुतम्। इस प्रकार यम देवता के कहे जाने पर नचिकेता ने कहा– इस आत्मतत्त्व के विषय में देवताओं ने भी संशय किया था, यह बात मैंने आपसे सुनी है। **त्वं च मृत्यो यद्य–स्मान्न सुविज्ञेयमात्मतत्त्वमात्थ कथय[2]स्यतः पण्डितैरुपदेशनीयत्वाद्वक्ता चास्य धर्मस्य त्वादृक्त्वत्तुल्योऽन्यः पण्डितश्च न लभ्योऽन्विष्यमाणो–ऽपि।** और भी हे मृत्युदेवता! जिसलिए यह कह रहे हो कि आत्म–तत्त्व सुविज्ञेय नहीं है, इसलिए ज्ञानिओं के द्वारा ही यह उपदिष्ट होने से, इस आत्मधर्म का वक्ता आपके समान कोई दूसरा ज्ञानी ढूंडने पर भी नहीं मिलेगा। **अयं तु वरो निःश्रेयसप्राप्तिहेतुरतो नान्यो वरस्तुल्यः सदृशोऽस्त्येतस्य कश्चिदप्यनित्यफलत्वादन्यस्य सर्व–स्यैवेत्यभिप्रायः।। २२।।** यह वर तो मोक्ष की प्राप्ति का हेतु है। इसलिए दूसरा कोई भी इस वर के सदृश नहीं है। क्योंकि दूसरे सब अनित्य फल वाले हैं, यह अभिप्राय है।। २२।।

१. किल – निपातों का अनेक अर्थ होने से किल का अर्थ करते हैं– भवतः एव नः श्रुतम् – आपसे ही मैंने सुना है। २. अतः – देवताओं के विचार का विषय दुर्विज्ञेय होने से अज्ञानी द्वारा उपेदश नहीं किया जा सकता है।

शतायुषः पुत्रपौत्रान्वृणीष्व बहून्पशून्हस्तिहिरण्यमश्वान्।
भूमेर्महदायतनं वृणीष्व स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि।। २३।।

शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व– हे नचिकेता! तू सौ वर्षो की आयु वाले बेटे और पोते का वरदान माँग ले। **बहून् पशून् हस्तिरिरण्यं अश्वान–** साथ में अनेक पशु, हाथी, घोड़े और सुवर्ण माँग ले। **भूमेः महत् आयतनं वृणीष्व–** तथा विस्तृत भूमंडल का राज्य माँग ले। **स्वयं च जीव शरदः यावत् इच्छसि–** और स्वयं जितनी आयु तक जीवित रहना चाहते हो उतनी आयु का वरदान माँग ले।। २३।।

एवमुक्तोऽपि पुनः प्रलोभयन्नुवाच मृत्युः – शतायुषः शतं वर्षाण्यायूंषि येषां तान्शतायुषः पुत्रपौत्रान्वृणीष्व। किंच गवादिलक्षणा–न्बहून्पशून्। हस्तिहिरण्यं हस्ती च हिरण्यं च हस्तिहिरण्यम्। अश्वांश्च। किंच भूमेः पृथिव्या महद्विस्तीर्णमायतनमाश्रयं मण्डलसा–म्राज्यं वृणीष्व। इस प्रकार नचिकेता के द्वारा कहे जाने पर भी, मृत्यु देवता ने फिर से नचिकेता को प्रलोभित करते हुए कहा – सौ वर्ष की आयु वाले पुत्र और पौत्रों का वरण कर। और भी गौ आदि लक्षण वाले अनेक पशु, हाथी, सोना और घोड़े माँग ले। और भी विशाल भूभाग अर्थात् भूमण्डल का साम्राज्य माँग ले। **किंच सर्वमप्येतदनर्थकं स्वयं चेदल्पायुरित्यत आह स्वयं च जीव त्वं जीवधारय शरीरं समग्रेन्द्रियकलापं शरदो वर्षाणि यावदिच्छसि जीवितुम्।। २३।।** और भी स्वयं अल्पायु होने पर यह सब अनर्थक है इसलिए निरोग समस्त इन्द्रिय और शरीर से युक्त जितने वर्ष जीवित रहने की इच्छा है उतने वर्ष जीवित रहो।। २३।।

एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च। महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि कामानां त्वा कामभाजं करोमि।। २४।।

एतत् तुल्यं वरं यदि मन्यसे– इसके समान यदि तुम कोई अन्य वर समझते हो तो उसे भी, **वित्तं चिरजीविकां च वृणीष्व–** तथा धन और चिर जीवन (लम्बी आयु) भी माँग लो। **नचिकेतः त्वं**

महाभूमौ एधि– हे नचिकेता! तुम बहुत बड़े भूमि का राजा हो जाओ। **त्वा कामानां कामभाजं करोमि–** और भी मैं तुझे कामनाओं का कामभागी करता हूँ अर्थात् इच्छा मात्र से भोग तुझे प्राप्त होंगे।। २४।।

एतत्तुल्यमेतेन यथोपदिष्टेन सदृशमन्यपपि यदि मन्यसे वरं तमपि वृणीष्व। तू यदि किसी अन्य वर को पूर्वोक्त (कहे गये पुत्र, पौत्र, धन आदि) वर के समान समझते हो तो उसे भी माँग लो। टीका - पुत्र, धन आदि को एक एक करके वर रूप में उपन्यास कर, अब उन सबको मिला करके कहते हैं– **किंच वित्तं प्रभूतं हिरण्यरत्नादि चिरजीविकां च सह वित्तेन वृणीष्वेत्येतत्।** और भी सुवर्ण रत्न आदि प्रचुर धन, तथा धन के साथ चिर जीवन (लम्बी आयु) भी माँग लो। **किं बहुना महाभूमौ महत्यां भूमौ राजा नचिकेतस्वमेधि भव।** बहुत कहने से क्या? नचिकेता! तुम महान् भूभाग का राजा बन जाओ। टीका– अस् धातु (भुवि) होने के अर्थवाला है। उसका लोट् लकार मध्यम पुरुष एकवचन का प्रयोग एधि, उसका अर्थ किया है भव। **किंचान्यत्कामानां दिव्यानां मानुषाणां च त्वा त्वां कामभाजं कामभागिनं कामार्हं करोमि सत्यसंकल्पो ह्यहं देवः।। २४।।** और भी तुझे अन्य दिव्य और मनुष्यों के काम्य वस्तुओं को इच्छानुसार भोगने के सक्षम बना देता हूँ, क्योंकि मैं सत्यसंकल्पवाला हूँ।। २४।।

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान्कामाँश्छन्दतः प्रार्थयस्व। इमा रामाः सरथाः सतूर्या न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः। आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व नचिकेतो मरणं माऽनुप्राक्षीः।। २५।।

मर्त्यलोके ये ये कामाः दुर्लभाः मर्त्यलोक में जो जो भोग दुर्लभ हैं, **छन्दतः सर्वान् कामान् प्रार्थयस्व–** उन समस्त काम्य वस्तुओं को तुम अपनी इच्छा से माँग लो। **सरथाः सतूर्याः इमाः रामाः** ये रथ और बाजों के साथ जो दिव्य अप्सराएँ हैं, **ईदृशाः न**

हि मनुष्यैः लम्भनीयाः– इस प्रकार की स्त्रियाँ मनुष्यों को प्राप्त नहीं होती। **मत्प्रत्ताभिः आभिः परिचारयस्व**– हे नचिकेता! मेरे द्वारा दी हुई इन बालाओं से तुम अपनी सेवा कराओ। **नचिकेतः मरणं मा अनुप्राक्षीः**– किन्तु हे नचिकेता मरण विषयक प्रश्न मत पूछ।। २५।।

ये ये कामाः प्रार्थनीया दुर्लभाश्च मर्त्यलोके सर्वांस्तान्कामां–श्छन्दतः इच्छातः प्रार्थयस्व। मर्त्यलोक में जो जो दुर्लभ प्रार्थनीय भोग हैं, उन सब भोगों को अपनी इच्छा अनुसार माँग लो। [1]**किंचेमा दिव्या अप्सरसो रमयन्ति पुरुषानिति रामाः सह रथैर्वर्तन्त इति सरथाः। सतूर्याः सवादित्रास्ताश्च न हि लम्भनीयाः प्रापणीया ईदृशा एवंविधा मनुषैर्मत्यैरस्मदादिप्रसादमन्तरेण।** और भी, रथ और बाजे गाजे के साथ, पुरुषों को रमण करने वाली ये दिव्य अप्सराएँ, हम जैसे देवताओं की कृपा के बिना मरणशील मनुष्यों को प्राप्त नहीं होती। **आभिर्मत्प्रत्ताभिर्मया दत्ताभिः परिचारिणीभिः परिचारय–स्वाऽऽत्मानं पादप्रक्षालनादिशुश्रूषां कारयाऽऽत्मन इत्यर्थः।** मेरे द्वारा दी गयी इन सेविकाओं से पादप्रक्षालन आदि अपनी सेवा कराओ। **नचिकेतो मरणं मरणसम्बन्धं प्रश्नं प्रेतेऽस्ति नास्तीति काकदन्तपरीक्षारूपं माऽनुप्राक्षीर्मैवं प्रष्टुमर्हसि।। २५।।** हे नचिकेता! मरने के बाद आत्मा है या नहीं इस प्रकार, काकदन्त परीक्षा के समान (कौएं के कितने दान्त होते हैं), मरण संबन्ध में प्रश्न मत पूछ, अर्थात् पूछने के लिए तुम योग्य नहीं हो।। २५।। १. किंच– बालक को अप्सराओं से प्रलोभित करना उचित नहीं लगता है। सत्यसंकल्प होने से यमदेवता नचिकेता को यौवन भी दे सकते हैं। इस प्रकार समझ लेना चाहिए।

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः। अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते।। २६।।

अन्तक यत् एतत् मर्त्यस्य श्वोभावाः– हे अन्तक! ये भोग्य वस्तु कल तक रहेंगे या नहीं, ऐसे संदेहास्पद अनित्य हैं। **सर्वे**

इन्द्रियाणां तेजः जरयन्ति– तथा ये अप्सरा आदि भोग इन्द्रियों की तेज अर्थात् शक्ति को नष्ट कर देती है। **अपि सर्वं जीवितं अल्पं एव–** और भी आपके द्वारा दिया हुआ यह लम्बी ऊमर भी थोड़ा ही है। **तव एव वाहाः तव नृत्यगीते–** इसलिए रथ आदि वाहन और नृत्य–गीत करने वाले अप्सराओं को आप अपने पास रखिए।। २६।।

एवं मृत्युना प्रलोभ्यमानोऽपि नचिकेता [1]महाह्रदवदक्षोभ्य आह – इस प्रकार मृत्युदेवता के द्वारा प्रलोभित किये जाने पर भी महान् ह्रद के समान अक्षुब्ध रहते हुए नचिकेता ने कहा– **श्वोभावाः श्वो भविष्यन्ति न भविष्यन्ति वेति संदिह्यमान एव येषां भावो भवनं त्वयोपन्यस्तानां भोगानां ते श्वोभावाः।** आपके कहे गये भोग कल तक रहेंगे या नहीं रहेंगे, ऐसे संदेहास्पद हैं। **किंच मर्त्यस्य मनुष्य–स्यान्तक हे मृत्यो, यदेतत्सर्वेन्द्रियाणां तेजस्तज्जरयन्त्यप्सरः प्रभृतयो हि भोगा अनर्थायैवेति। धर्मवीर्यप्रज्ञातेजोयशःप्रभृतीनां क्षपयितृत्वात्।** और भी हे मृत्युदेवता! अप्सरा आदि भोग्य पदार्थ, मनुष्यों के इन्द्रियों के तेज अर्थात् शक्ति को क्षीण कर देते हैं, इसलिए अनर्थ के लिए ही होते हैं। क्योंकि ये भोग; धर्म, शक्ति, ज्ञान, तेज और यश आदि के नाशक हैं। **यां चापि दीर्घजीविकां त्वं दित्ससि तत्रापि शृणु। सर्वं यद्ब्रह्मणोऽपि जीवितमायुरल्पमेव किमुतास्मदादिदीर्घजी–विका। अतःस्तवैव तिष्ठन्तु वाहा रथादयस्तथा नृत्यगीते च।। २६।।** और भी जो लम्बि ऊमर आप देना चाहते हैं, उस विषय में सुनो। जो ब्रह्मा जी की पूर्ण आयु है, वह भी अल्प ही है। फिर तो हमारे जैसे मनुष्यों की दीर्घायु का क्या कहना है। इसलिए रथ आदि वाहन और नृत्य–गीत करने वाली अप्सराएँ आपके पास ही रहें।। २६।। १. महाह्रदवदक्षोभ्यः – जैसे अत्यन्त गभीर जलाशय को जंगली उन्मत्त गजराज अपनी सूँड से क्षुभित नहीं कर सकता अर्थात् मथ नहीं सकता, वैसे।

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा। जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं वरस्तु मे वरणीयः स एव।। २७।।

मनुष्यः वित्तेन न तर्पणीयः– मनुष्य धन से तृप्त होने योग्य नहीं है। **चेत् त्वा अद्राक्ष्म वित्तं लप्स्यामहे–** और आपको देख लिया तो धन प्राप्त कर ही लेंगे। **जीविष्यामः यावत् त्वं ईशिष्यसि–** और जब तक आप यम की पदवी में है तब तक तो हम जीवित रहेंगे ही। **वरः तु मे सः एव वरणीयः–** परन्तु हमारा प्रार्थनीय वर तो वही है, अर्थात् आत्मा का ज्ञान ही है।। २७।।

किंच न प्रभूतेने वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः। [1]न हि लोके वित्तलाभः कस्यचित्तृप्तिकरो दृष्टः। यदि नामास्माकं वित्ततृष्णा स्याल्लप्स्यामहे प्राप्स्यामह इत्येतद्वित्तमद्राक्ष्म दृष्टवन्तो वयं चेत्त्वा त्वाम्। और भी अधिक धन से मनुष्य को तृप्त नहीं किया जा सकता। क्योंकि संसार में धनलाभ किसी का तृप्ति–कारक नहीं देखा गया है। अगर हमें धन की इच्छा होगी तो आपको देख लेने के बाद वह भी (आपकी कृपासे) प्राप्त कर ही लेंगे। **जीवितेऽपि तथैव जीविष्यामो यावद्याम्ये पदे त्वमीशिष्यसि त्वमीशिष्यसे प्रभुः स्याः। कथं हि मर्त्यस्त्वया समेत्याल्पधनायुर्भवेत्। वरस्तु मे वरणीयः स एव यदात्मविज्ञानम्।। २७।।** जीवन के विषय में भी वैसे (धनप्राप्ति के समान) ही है। जब तक आप यम पदवी में आसीन हैं, तब तक तो हम जीवित रहेंगे ही। भला आप जैसे महान् आत्मा का सान्निध्य प्राप्त करके कैसे कोई मृत्युलोक के निवासी मनुष्य, अल्प धन और जीवन वाला हो सकता है। किन्तु वर वही आत्मविज्ञान ही वरणीय (प्रार्थनीय) है।। २७।। १. धन लाभ यदि तृप्ति कारक होता तो प्रचुर धन लाभ के बाद भी लोग बार–बार धन के लिए प्रयत्न नहीं करते किन्तु ऐसे देखा गया हैं।

अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन्मर्त्यः क्वधःस्थः प्रजा-नन्। अभिध्यान्वर्णरतिप्रमोदानतिदीर्घे जीविते को रमेत।। २८।।

अजीर्यतां अमृतानां उपेत्य- अजर अमर देवता का सान्निध्य प्राप्त कर, **जीर्यन् मर्त्यः क्वधःस्थः प्रजानन्-** जरा-मरण से ग्रस्त, नीचे पृथिवी लोक का निवासी, ऐसा कौन (मूर्ख) होगा, जो (उत्कृष्ट अन्य प्रयोजन को) जानते हुए (पुत्र, वित्त आदि की इच्छा करेगा)। **वर्णरतिप्रमोदान् अभिध्यायन् अतिदीर्घे जीविते कः रमेत-** और भी अप्सरा आदियों के वर्णरति के आनन्द को नश्वर जानता हुआ, कौन अति दीर्घ जीवन में प्रेम करेगा।। २८।।

टीका - (पहले वैराग्य को दृढ़ कर अब विवेक को दृढ़ करने के लिए नचिकेता कहता है) और भी उत्कृष्ट पुरुषार्थ का लाभ संभव होने पर निकृष्ट पुरुषार्थ की इच्छा करने से मैं मूर्ख ही हूँगा। (**मणिं हस्तागतं हित्वा यो वराटान्जिघृक्षते। नहि मूढतमो लोके तस्मादन्योऽत्र गण्यते।।** हाथ में आये हुए मणि को त्याग कर जो कौड़ी ग्रहण करना चाहता है, उससे बड़ा मूर्ख संसार में कोई नहीं है) इससे भी मेरा वही वर प्रार्थनीय है। इस बात को कहते हैं- **यतश्चाजीर्यतां वयोहानिमप्राप्नुवताममृतानां सकाशमुपेत्योपगम्याऽऽत्मन उत्कृष्टं प्रयोजनानन्तरं प्राप्तव्यं तेभ्यः प्रजानन्नुपलभमानः स्वयं तु जीर्यन्मर्त्यो जरामरणवान्क्वधःस्थः कुः पृथिव्यधश्चान्तरिक्षादिलोकापेक्षया तस्यां तिष्ठतीति क्वधःस्थः सन्कथमेवमविवेकिभिः प्रार्थनीयं पुत्रवित्त-हिरण्याद्यस्थिरं वृणीते।** कु अर्थात् पृथिवी वह अन्तरक्षि आदि लोक से नीचे होने से अधः, उसमें रहने वाले क्वधस्थ अर्थात् पृथवी के निवासी, बुढ़पा और मरण से ग्रस्त मनुष्य; बुढ़ापा और मरण से रहित देवताओं का सानिध्य प्राप्त कर, प्राप्त होने वाला अपना उत्कृष्ट अन्य प्रयोजन को जानते हुए, कैसे इस प्रकार अज्ञानी द्वारा प्रार्थना के योग्य पुत्र, धन आदि अनित्य विषयों की याचना करेगा? **क्व तदास्थ इति वा पाठान्तरम्। अस्मिन्पक्षे चाक्षरयोजना तेषु पुत्रादिष्वास्थाऽऽस्थितिस्तात्पर्येण वर्तनं यस्य स तदास्थस्ततोऽधिकतरं**

पुरुषार्थं दुष्प्रापमपि प्रापिपयिषुः क्व तदास्थो भवेन्नकश्चित्तदसारज्ञस्त-दर्थी स्यादित्यर्थः। क्व तदास्थ ऐसा पाठान्तर देखा जाता है। इस पक्ष में वाक्य योजना इस प्रकार है, उन पुत्र आदि में जिसकी आस्थिति अर्थात् तत्परता पूर्वक प्रवृत्ति है उसे तदास्थ कहते हैं। उससे भी श्रेष्ठतर दुष्प्राप्य पुरुषार्थ (मोक्ष) को प्राप्त करने की इच्छावाला क्व ऐसा कौन होगा जो तदास्थ अर्थात् उन पुत्र आदि विषयों में आस्था रखेगा? उनको सार हीन जानने वाला कोई भी पुरुष उनकी इच्छा नहीं कर सकता है। **सर्वो ह्युपर्युपर्येव बुभूषति लोकस्तस्मान्न पुत्रवित्तादिलाभैः प्रलोभ्योऽहम्।** क्योंकि सभी लोग ऊपर-ऊपर होना चाहते हैं अर्थात् अपनी स्थिति से उन्नत स्थिति प्राप्त करना चाहते हैं। इसलिए पुत्र, धन आदि के लाभ से मैं प्रलोभित नहीं किया जा सकता हूँ। **किंचाप्सरःप्रमुखान्वर्णरतिप्रमोदा-ननवस्थिररूपतयाऽभिध्यायन्निरूपयन्यथावदतिदीर्घे जीविते को विवेकी [1]रमेत।। २८।।** और भी अप्सराएँ है प्रमुख जिन वर्णरतिप्रमोद के अर्थात् शब्द से अभिधेय विषयों की आसक्ति से होने वाला सुख, उन्हें सही रूप से अनित्य निश्चय करके, कौन विवेकी बहुत लम्बी जीन्देगी में रमण करेगा अर्थात् चाहेगा।। २८।। १.

(**परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः। प.सू** परिणाम, ताप, संस्कार के दुःखों के कारण और गुणवृत्ति विरोध के कारण, विवेकी के लिए सब कुछ दुःख ही है।)

यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो यत्सांपराये महति ब्रूहि नस्तत्। योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो नान्यं तस्मान्नचि-केता वृणीते।। २९।।

इति काठकोपनिषदि प्रथमाध्याये प्रथमा वल्ली समाप्ता।। १।।

मृत्यो यस्मिन् इदं विचिकित्सन्ति- हे मृत्यु देवता! मरने के बाद जिस आत्मा के विषय में लोग यह सन्देह करते हैं कि रहता है या नहीं इस प्रकार **यत् महति सांपराये तत् नः ब्रूहि-** परलोक के विषय में जो महान प्रयोजन निमित्त आत्मज्ञान है, उसे मुझे

उपदेश करो। **यः अयं वरः गूढं अनुप्रविष्टः–** जो यह वर अत्यन्त गहनता को प्राप्त अर्थात् दुर्विज्ञेय है, **तस्मात् अन्यं नचिकेता न वृणीते–** इससे भिन्न और कोई वर नचिकेता नहीं माँगता है।। २६।।

इस प्रकार काठक उपनिषत् के प्रथम अध्याय के प्रथम वल्ली समाप्त हुई।

अतो विहायानित्यैः कामैः प्रलोभनं यन्मया प्रार्थितं यस्मिन्प्रेत इदं विचिकित्सनं विचिकित्सन्त्यस्ति नास्तीत्येवंप्रकारं हे मृत्यो, सांपराये परलोकविषये महति महत्प्रयोजननिमित्त आत्मनो निर्णय-विज्ञानं यत्तद्ब्रूहि कथय नोऽस्मभ्यम्। इसलिए हे मृत्युदेवता! अनित्य भोगों के प्रलोभन को छोड़कर जो मैंने प्रार्थना की है, मरने के बाद आत्मा है, नहीं है, ऐसा जो सन्देह है, परलोक विषय में महान् प्रयोजन (मोक्ष) के निमित्त जो आत्मा का निर्णय संबन्धि ज्ञान, उसे हमें कहिए। **किं बहुना योऽयं प्रकृत आत्मविषयो वरो गूढं गहनं दुर्विवेचनं प्राप्तोऽनुप्रविष्टस्तस्माद्वरादन्यमविवेकिभिः प्रार्थनीयमनित्य-विषयं वरं नचिकेता न वृणीते मनसाऽपीति श्रुतेर्वचनमिति।। २६।।**

इति श्रीमत्परमहंसापरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमदाचार्यश्रीशंकर-भगवतः कृतौ काठकोपनिषद्भाष्ये प्रथमवल्लीभाष्यं समाप्तम्।। १।।

बहुत कहने से क्या, जो यह प्रसंग से प्राप्त आत्मा को विषय करने वाला वर है, जो गहन अनुप्रविष्ट अर्थात् जिसका विवेक कठिनता से प्राप्त है, उस वरदान से भिन्न अज्ञानियों से प्रार्थनीय अनित्य वस्तु को विषय करने वाला वर, नचिकेता मनसे भी नहीं चाहता है। यह श्रुति का वचन है।। २६।।

इस प्रकार श्रीमतपरमहंस परिव्राजकाचार्य गोविन्द भगवत् पूज्यपाद शिष्य श्रीमत् आचार्य भगवान श्री शंकरचार्य के द्वारा किया गया काठक उपनिषत् के भाष्य में प्रथम वल्ली समाप्त हुई।

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषँ सिनीतः। तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते।। १।।

श्रेयः अन्यत्–श्रेय अर्थात् निःश्रेयस अलग है **उत एव प्रेयः अन्यत्**– और भी प्रेय अर्थात् अभ्युदय अलग है। **ते उभे नाना अर्थे पुरुषं सिनीतः।** वे दोनों भिन्न प्रयोजन के होते हुए पुरुषो को बाँधते हैं। **तयोः श्रेयः आददानस्य साधुः भवति**– उनमें से श्रेय के ग्रहण करने वाला का मंगल होता है, **य उ प्रेयः वृणीते अर्थात् हीयते**– परन्तु प्रेय के ग्रहण करने वाला पुरुषार्थ से विच्युत हो जाता है।। १।।

(श्रेयस्– अतिशयेन प्रशस्यं, इयसुन्, अधिक मंगल कारक। निःश्रेयस्– नितरां श्रेयस् निश्रेयस् पूर्ण रूप से अधिक मंगल कारक। अभ्युदयनिःश्रेयस – भोग और मोक्ष। प्रेय और श्रेय। प्रशस्य– प्र+शंस्+क्यप्)

टीका– [१]अभ्युदय और निःश्रेयस के विभाग के प्रदर्शन से तथा विद्या और अविद्या के विभाग के प्रदर्शन से केवल विद्या के इच्छुक होने से पहले शिष्य की स्तुति करते हैं– **परीक्ष्य शिष्यं विद्यायोग्यतां चावगम्याऽऽह**– शिष्य की परीक्षा करके, उसमें विद्या की योग्यता को जान कर यमदेवता ने कहा। **अन्यत्**[२]**पृथगेव श्रेयो** [३]**निःश्रेयसं तथाऽन्यदुताप्येव प्रेयः प्रियतरमपि ते प्रेयःश्रेयसी उभे नानार्थे भिन्नप्रयोजने सती पुरुषमधिकृतं वर्णाश्रमादिविशिष्टं सिनीतो बध्नीतस्ताभ्यां विद्याविद्या–भ्यामात्मकर्तव्यतया प्रयुज्यते सर्वः पुरुषः।** श्रेय अर्थात् निःश्रेयस (मोक्ष) अलग है तथा प्रेय अर्थात् प्रियतर (अभ्युदय) अलग है। वे प्रेय और श्रेय दोनों भिन्न प्रयोजन के होते हुए वर्णाश्रम आदि विशिष्ट अधिकारी पुरुष को बाँधते हैं। अर्थात् अपना कर्तव्य रूप से उन विद्या और अविद्या द्वारा सब पुरुष प्रयु होते हैं। **श्रेयःप्रेयसोर्ह्यभ्युदयामृतत्वार्थी पुरुषः प्रवर्तते। अतः श्रेयःप्रेयः प्रयोजन–कर्तव्यतया ताभ्यां बद्ध इत्युच्यते सर्वः पुरुषः।** अभ्युदय चाहने वाला पुरुष प्रेय में और अमरत्व चाहने वाला पुरुष श्रेय में प्रवृत्त होता

है। इसलिए प्रयोजन के लिए कर्तव्य रूप से श्रेय और प्रेय होने से, उनसे सब पुरुष बन्धे हुए हैं ऐसा कहा जाता है। **टीका**- श्रेय और प्रेय में से किसी एक के परित्याग से दूसरे के ग्रहण में भाष्यकार हेतु देते हैं- **ते यद्यप्येकैकपुरुषसम्बन्धिनी विद्याविद्यारूपत्वाद्विरुद्धे इत्यन्यतरा- परित्यागेनैकेन पुरुषेण सहानुष्ठातुमशक्यत्वात्तयोर्हित्वाऽविद्यारूपं प्रेयः श्रेय एव केवलामाददानस्योपादानं कुर्वतः साधु शोभनं शिवं भवति।** वे यद्यपि एक-एक पुरुष के साथ संबन्ध रखते हैं, क्योंकि एक विद्यारूप और दूसरा अविद्या रूप होनेसे परस्पर विरूद्ध है, किसी एक के परित्याग के बिना, एक पुरुष के द्वारा दोनों का साथ साथ अनुष्ठान असंभव होने से, अविद्या स्वरूप प्रेय को त्याग कर केवल श्रेय का ही ग्रहण करने वाले का कल्याण होता है। **टीका** - वे यद्यपि एक एक के साथ संबन्ध रखते हैं, किन्तु परस्पर विरुद्ध हैं। **यस्त्वदूरदर्शी विमूढो हीयते वियुज्यते, कस्मात्, अर्थात्पुरुषार्थात्पार- मार्थिकात्प्रयोजनान्नित्यात्प्रच्यवत इत्यर्थः। कोऽसौ। य उ प्रेयो वृणीते उपादत इत्येतत्।। १।।** जो अदूरदर्शी मूर्ख है वह विच्युत (वंचित) हो जाता है। किससे विच्युत होता है? अर्थ से अर्थात् पुरुषार्थ से अर्थात् नित्य पारमार्थिक प्रयोजन से विच्युत हो जाता है। वह कौन है जो पुरुषार्थ से विच्युत हो जाता है? जो प्रेय का वरण करता है अर्थात् ग्रहण करता है।। १।। १. अभ्युदय स्वर्गादि अनित्य सुख। निःश्रेयस नित्य सुख मोक्ष। २. पृथगिति- स्वरूप से और फल से विलक्षण यह अर्थ है। ३. निःश्रेयसम् - जो अतिशय (अत्यन्त) प्रशस्य (श्रेष्ठ या प्रशंसा के योग्य) है उसे निःश्रेयस कहते हैं। 'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते' इस प्रकार स्मृति वचन है।

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः। श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते।। २।।

श्रेयः च प्रेयः च मनुष्यं एतः- श्रेय और प्रेय दोनों मनुष्यों को प्राप्त होते हैं। **धीरः तौ संपरीत्य विविनक्ति-** बुद्धिमान् पुरुष उनको अच्छी तरह विचार कर एक को दूसरे से अलग कर लेता

है। **धीरः प्रेयसः हि श्रेयः अभिवृणीते–** धीर पुरुष प्रेय की अपेक्षा श्रेय का वरण करता है। **मन्दः योगक्षेमात् प्रेयः वृणीते–** मन्द बुद्धि वाला पुरुष योग–क्षेम के लिए प्रेय का वरण करता है।। २।।

यद्युभे अपि कर्तुस्वायत्ते पुरुषेण किमर्थं प्रेय एवाऽऽदत्ते बाहुल्येन लोक इत्युच्यते– यदि श्रेय और प्रेय दोनों को ग्रहण करने में पुरुष स्वाधीन है तो लोग अधिकतर प्रेय को क्यों ग्रहण करते हैं? इस पर कहते हैं– **सत्यं स्वायत्ते तथाऽपि [1]साधनतः फलतश्च मन्दबुद्धीनां दुर्विवेकरूपे सती [2]व्यामिश्रीभूते इव मनुष्यं पुरुषमेतः प्राप्नुतः श्रेयश्च प्रेयश्च।** यह सत्य है कि दोनों में किसी एक को स्वीकार करने में व्यक्ति स्वतन्त्र है, फिर भी अल्पबुद्धि वाले को साधन और फल को ले कर विवेक न हो पाने से (दूध और पानी के समान) दोनों मिले हुए जैसे पुरुष को श्रेय और प्रेय प्राप्त होते हैं। **अतो हंस इवाम्भसः पयस्तौ श्रेयः प्रेयः पदार्थौ संपरीत्य सम्य–क्परीगम्य मनसाऽऽलोच्य गुरुलाघवं विविनक्ति पृथक्करोत धीरो [3]धीमान्।** इसलिए हंस जैसे दुध को पानी से अलग कर देता है वैसे बुद्धिमान व्यक्ति श्रेय और प्रेय पदार्थो को मनसे विचार कर के गुरु और लाघव (श्रेष्ठता और हीनता) का विवेचच करता है अर्थात् प्रेय से श्रेय को अलग कर देता है। **विविच्य च श्रेयो हि श्रेय एवभिवृणीते प्रेयसोऽभ्यर्हितत्वात्।** विवेचना करके प्रेय से श्रेय का ही वरण करता है, क्योंकि वह प्रेय से अभ्यर्हित अर्थात् उत्तम है। **कोऽसौ धीरः।** श्रेय को वरण करने वाला कौन है? वह धीर अर्थात् बुद्धिमान मनुष्य है। **यस्तु मन्दोऽल्पबुद्धिः स विवेकासामर्थ्या–[4]द्योगक्षेमाद्योगक्षेमनिमित्तं शरीराद्युपचयरक्षणनिमित्तमित्येतत्प्रेयः पशुपु–त्रादिलक्षणं वृणीते।। २।।** जो तो मन्द अर्थात् अल्पबुद्धि वाला है वह विवेक में समर्थ न होने से, योग और क्षेम के लिए शरीर आदि की वृद्धि, रक्षा के लिए पशु, पुत्र आदि लक्षण वाला प्रेय का वरण करता है।। २।। १. साधनतः – अनुष्ठान से। २. व्यामिश्रीभूते इव– सुख के दोनों साधन होने से मिले हुए जैसे प्रतीत होते हैं। अथवा साथ साथ उपदेश

होने से साथ साथ अनुष्ठेय है इस प्रकार प्रतीत होते हैं। ३. धीमान्- वह भी मनुष्यों में कोई एक होता है यह भाव है। ४. योगक्षेम - अप्राप्त शरीर आदि का उपचय (वृद्धि) की प्राप्ति योग, और उन शरीरादि का रक्षण क्षेम है।

स त्वं प्रियान्प्रियरूपाँश्च कामानभिध्यायन्नचिकेतोऽ-त्यस्राक्षीः। नैताँसृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः।। ३।।

नचिकेतः सः त्वं प्रियान् प्रियरूपान् कामान् अभिध्यायन् अत्यस्राक्षीः- वह तुम हे नचिकेता! प्रिय पुत्रादि और प्रियरूप अप्सरा आदि काम्य वस्तुओं को विचार करके त्याग दिया। **न एतां वित्तमयीं सृंकां अवाप्तः-** और भी इस धनमयी दिव्य हार अथवा प्रचुर धन वाला कुत्सित गति को तू ने प्राप्त नहीं किया, **यस्यां बहवः मनुष्याः मज्जन्ति-** जिसमें बहुत अज्ञानी डूब जाते हैं, अर्थात् जिसको प्राप्त करने के लिए वे मर मिटते हैं।। ३।।

स त्वं पुनः पुनर्मया प्रलोभ्यमानोऽपि प्रियान्पुत्रादीन्प्रियरूपां-श्चाप्सरःप्रभृतिलक्षणान्कामानभिध्यायंश्चिन्तयंस्तेषामनित्यत्वासारत्वादि-दोषान्हे नचिकेतोऽत्यस्राक्षीरतिसृष्टवान्परित्यक्तवानस्यहो[1] बुद्धिमत्ता तव। बार बार मेरे द्वारा प्रलोभित किये जाने पर भी वह तुमने नचिकेता! पुत्र आदि प्रिय और अप्सरा आदि प्रिय रूप काम्य पदार्थों के अनित्य तथा असारत्व दोष आदि का विचार कर, त्याग दिया। आपकी बुद्धिमता प्रशंसनीय है। **नैतामवाप्तवानसि सृङ्कां [2]सृतिं [3]कुत्सितां मूढजनप्रवृत्तां वित्तमयीं धनप्रायाम्। यस्यां सृतौ मज्जन्ति सीदन्ति बहवोऽनेके मूढा मनुष्याः।। ३।।** मूर्ख लोगों की प्रवृत्ति वाली प्रचुर धनवाली इस सृङ्का को अर्थात् निकृष्ट गति को जिस गति अर्थात् मार्ग में अनेक मूर्ख लोग डूब जाते हैं, उसे तुमने प्राप्त नहीं की अर्थात् स्वीकार नहीं किया।। ३।। १. अहो- बालक होते हुए भी आपकी बुद्धिमता आश्चर्य उत्पन्न करता है। २. सृतिं - स्रकि गतौ- स्रकि धातु के गति अर्थ को लेकर सृति अर्थात् गति अर्थ करते हैं। ३. कुत्सितां- पहले १६वां मंत्र के भाष्य में (सृङ्कां अकुत्सितां गतिं कर्ममयीं गृहाण) व्यावहारिक दृष्टि से अकुत्सित अर्थ किया था अब पारमार्थिक दृष्टि से कुत्सित अर्थ करते हैं।

दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता। विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवोऽलोलु-पन्त।। ४।।

अविद्या या च विद्या एते दूरं विपरीते इति ज्ञाता- विद्या और अविद्या ये दोनों का फासला अधीक है, दोनों परस्पर विपरीत स्वभाव तथा भिन्न फल वाले हैं, यह बात जानी गयी है। **नचिकेतसं विद्याभीप्सिनं मन्ये-** हे नचिकेता! मैं मानता हूँ कि तुम विद्या के अभिलाषी हो। **त्वा बहवः कामाः न अलोलुपन्त-** क्योंकि तुम्हें अनेक काम्य वस्तु प्रलोभित नहीं कर पाये।। ४।।

तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते इत्युक्तं [१]तत्कस्माद्यतो दूरं दूरेण महताऽन्तरेणैते विपरीते अन्योन्य[२]व्यावृत्तरूपे [३]विवेकाविवेकात्मकत्वात्तमःप्रकाशाविव। विषूची विषूच्यौ नानागती भिन्नफले संसारमोक्षहेतुत्वेनेत्येतत्। श्रेय और प्रेय इन दोनों में, जो श्रेय का ग्रहण करता है उसका भला होता है और जो प्रेय का ग्रहण करता है वह परमार्थ से भ्रष्ट हो जाता है, इस प्रकार कहा गया है। वह क्यों? क्योंकि विवेक और अविवेक रूप होने से अन्धकार और प्रकाश के सदृश दोनों में महान् अन्तर (फासला) है, तथा विपरीत अर्थात् परस्पर व्यावृत (भिन्न) रूप है। और विषूची अर्थात् संसार और मोक्ष के हेतु होने से भिन्न फल वाले हैं। **के ते इत्युच्यते या चाविद्या प्रेयोविषया विद्येति च श्रेयो-विषया ज्ञाता निर्ज्ञाताऽवगता पण्डितैस्[४]तत्र विद्याभीप्सिनं विद्यार्थिनं नचिकेतसं त्वामहं मन्ये।** वे कौन है ऐसी शंका होने पर कहते हैं- प्रेय को विषय करने वाली अविद्या तथा श्रेय को विषय करने वाली विद्या, इसे ज्ञानियों ने जाना है। उनमें तुझ नचिकेता को मैं विद्या के अभिलाषी अर्थात् विद्या को चाहने वाला मानता हूँ। **कस्माद्यस्मा-दविद्वद्बुद्धिप्रलोभिनः कामा अप्सरःप्रभृतयो बहवोऽपि त्वा त्वां नालोलुपन्त न विच्छेदं कृतवन्तः श्रेयोमार्गादात्मोपभोगाभिवांछासंपा-**

दनेन। अतो विद्यार्थिनं श्रेयोभाजनं मन्य इत्यभिप्रायः।। ४।। क्यों मानते हो? इसलिए कि अज्ञानी बुद्धि को प्रलोभित करने वाले अप्सरा आदि अनेक काम्य पदार्थ भी तुमको प्रलोभित नहीं कर सके अर्थात् अपनी भोग की लालसा उत्पन्न कर श्रेय मार्ग से तुम्हें अलग न कर सके। इसलिए तुम्हें विद्या चाहने वाला श्रेय का पात्र मानता हूँ। यह अभिप्राय है।। ४।। १. तत्कस्मात्– दोनों वैदिक होने से इस प्रकार का फल में भेद किस कारण है यह भाव है। २. व्यावृत्तरूपे– भिन्न स्वरूप। ३. विवेकेत्यादि– 'अर्थी दक्षो द्विजोऽहं बुद्ध इति मतिमान्कर्मस्वधिकारिः। ऐसे कर्मठ ही मिथ्या अभिमान वाला होता है, इसलिए कर्म अविवेक से होता है। ४. तत्र– पूर्वार्ध से शंका का समाधान कर फिर शिष्य की स्तुति करते हैं।

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितंमन्य–मानाः। दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः।। ५।।

अविद्यायां अन्तरे वर्तमानाः– अविद्या के अन्दर रहने वाले **स्वयं धीराः पंडितं मन्यमानाः–** अपने आप को बड़े बुद्धिमान और शास्त्र में कुशल समझने वाले; **मूढाः अन्धेन एव अन्धाः नीयमानाः दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति–** वे मूर्ख, जैसे अन्धे के द्वारा ले जाये गये अन्धे दुःख प्राप्त करते हैं वैसे अनेक प्रकार से दुःख प्राप्त करते हैं।। ५।।

ये तु संसारभाजना अविद्यायामन्तरे मध्ये घनीभूत इव तमसि वर्तमाना वेष्ट्यमानाः पुत्रपश्वादितृष्णापाशशतैः स्वयं वयं धीराः प्रज्ञा–वन्तः पण्डिताः शास्त्रकुशलाश्चेति मन्यमानास्ते दन्द्रम्यमाणा अत्यर्थं कुटिलामनेकरूपां गतिं गच्छन्तो जरामरणरोगादिदुःखैः परियन्ति [१]परि–गच्छन्ति [२]मूढा अविवेकिनोऽ[३]न्धेनैव दृष्टिविहीनेनैव नीयमाना विषमे पथि यथा बहवोऽन्धा महान्तमनर्थमृच्छन्ति तद्वत्।। ५।। किन्तु जो संसार के पात्र हैं (संसार प्राप्त करने योग्य है), वे अविद्या के अन्दर अर्थात् घनघोर अज्ञान अन्धकार में घिरे हुए, पुत्र, पशु आदि तृष्णा के बन्धन में बन्धे हुए, अपने आपको धीर अर्थात् ज्ञानी और

पण्डित अर्थात् शास्त्र में कुशल समझते हुए, वे मूर्ख अर्थात् विवेकहीन, जैसे दृष्टिहीन अन्ध के द्वारा विषम मार्ग में ले जाये जाते हुए अनेक अन्ध महान् अनर्थ को प्राप्त होते हैं वैसै दन्द्रम्यमाण अर्थात् अत्यन्त कुटिल अर्थात् विविध गति (दशा) को प्राप्त करके, बुढापा, मृत्यु, रोग आदि दुःखों से पीडित होते हैं।। ५।। १. परिगच्छन्ति- परितः संसारचक्रे भ्रमन्ति- चारों ओर संसार चक्र में घूमते रहते हैं। २. **'आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि। मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्।।'** भ.गी.१६.२०।। ३. अन्धेनैव- शंका- वे भी तो अपने अपने आचार्यों के उपदिष्ट मार्ग के अनुसरण करते हुए कैसे अनर्थ को प्राप्त करेंगे? इसका समाधान दृष्टान्त के द्वारा श्रुति बताती है, अन्धेनैव इत्यादि से। **न खलु करटानामाचार्यो भवति वरटः किं तर्हि करट एव कश्चिज्जरठ इति भावः।** कोई हंस कौओं का आचार्य नहीं बनता है किन्तु कोई बूढा कौआ ही बनता है, यह भाव है।

न सांपरायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्। अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमा-पद्यते मे।। ६।।

वित्तमोहेन प्रमाद्यन्तं मूढं बालं सांपरायः न प्रतिभाति- धन के प्रति मोह के कारण मूढता को प्राप्त हुए अज्ञानी प्रमाद करने वाले मनुष्य को परलोक का साधन नहीं दीखता है। **अयं लोकः पर न अस्ति इति मानी-** यह संसार ही सब कुछ है, इससे परे कोई लोक नहीं है, इस प्रकार मानने वाले, **पुनः पुनः मे वशं आपद्यते-** बार बार मेरे (मृत्यु के) वश में आता है।। ६।।

अत एव मूढत्वान्न सांपरायः प्रतिभाति। संपरेयत इति संपरायः परलोकस्तत्प्राप्तिप्रयोजनः साधनविशेषः शास्त्रीयः सांपरायः। स च बालमविवेकिनं प्रति न भाति न प्रकाशते नोपतिष्ठत इत्येतत्। इसलिए (मोह के कारण) ही मूढतावश सांपराय दीखता नहीं। देह छोड़ने के बाद जहाँ जाते हैं वह संपराय अर्थात् परलोक है। उसकी प्राप्ति का प्रयोजन अर्थात् शास्त्रीय विशेष साधन को सांपराय कहते हैं। वह बाल अर्थात् अविवेकी को भान अर्थात् प्रकाशित नहीं होता

है। **टीका–** सम्+पर+ईयते सम्यक् पराक्काले देहपातादूर्ध्वमेवेयते गम्यते इति संपरेयते। देह पात के बाद जहाँ सम्यक्–निश्चित रूप से जाये जाते हैं।
प्रमाद्यन्तं प्रमादं कुर्वन्तं पुत्रपश्वादिप्रयोजनेष्वासक्तमनसं तथा वित्तमोहेन वित्तनिमित्तेनाविवेकेन मूढं तमसाऽऽच्छन्नं सन्तमयमेव [1]लोको योऽयं दृश्यमानः स्त्र्यन्नपानादिविशिष्टो नास्ति परोऽदृष्टो लोक इत्येवं [2]मननशीलो मानी पुनः पुनर्जनित्वा वशं मदधीनतामा–पद्यते मे मृत्योर्मम जननमरणादिलक्षणदुःखप्रबन्धारूढ एव भवतीत्यर्थः। प्रायेण ह्येवंविधं एव लोकः।। ६।। पुत्र–पशु आदि प्रयोजन में आसक्त मन वाला तथा धन के कारण अविवेक से मृढ़ता को प्राप्त अर्थात् अज्ञान अन्धकार से आच्छन्न होकर प्रमाद करते हुए, यह मान बैठते हैं कि यह जो स्त्री–अन्नपान विशिष्ट संसार दीखता है वही सत्य है, इससे परे न दीखने वाला कोई लोक नहीं है। ऐसे मानने वाले पुरुष बार–बार जन्म लेकर मुझ मृत्यु देवता की अधीनता को प्राप्त होते हैं अर्थात् जन्म–मरण आदि लक्षण अनेक दुःख में आरूढ़ होते हैं। प्रायशः लोग इस प्रकार के होते हैं।। ६।।

१. लोकः– लोक्यते भुज्यते इति लोकः भोग्य पदार्थ। २. मननशीलः– एक प्रत्यक्ष को मानने वाले नास्तिक चार्वाक आदि।

श्रवणायापि बहुभिर्यो[1] न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः। आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः।। ७।।

बहुभिः श्रवणाय अपि यः न लभ्यः– जो यह आत्मतत्त्व बहुतों को सुनने के लिए भी नहीं मिलता, **बहवः शृण्वन्तः अपि यं न विद्युः–** सुनने पर भी अनेक जिसे नहीं जान पाते। **अस्य वक्ता आश्चर्यः** इसके वक्ता आश्चर्य है अर्थात् कोई एक बिरला होता हैं। **अस्य लब्धा कुशलः–** इसे प्राप्त करने वाला भी कोई एक निपुण पुरुष ही होता है। **कुशलानुशिष्टः ज्ञाता आश्चर्यः–** कुशल आचार्य के द्वारा उपदिष्ट जानने वाला भी कोई बिरला होता है।। ७।।

यस्तु श्रेयोऽर्थी स [२]सहस्रेषु कश्चिदेवाऽऽत्मविद्भवति त्वद्विधो यस्माच्छ्रवणायापि श्रवणार्थं श्रोतुमपि यो न लभ्य आत्मा [३]बहुभिर-नेकैः [४]शृण्वन्तोऽपि बहवोऽनेकेऽन्ये यमात्मानं न विद्युर्न [५]विदन्त्य-[६]भागिनोऽसंस्कृतात्मानो न विजानीयुः। श्रेय चाहने वाला हजारों में तुम जैसे कोई एक ही आत्मज्ञानी होता है। क्योंकि जो अर्थात् जिस आत्म तत्त्व को तुमने पूछा है वह अनेकों को सुनने के लिए प्राप्त नहीं होता। (उन सुननेवालों में) सुनने पर भी अनेक भाग्यहीन अशुद्ध अन्तःकरण वाले श्रोता जिस आत्मा को नहीं जान पाते। **किंचास्य वक्ताऽप्याश्चर्योऽद्भुतवदेवानेकेषु कश्चिदेव भवति।** और भी इसका उपदेशक भी आश्चर्य अर्थात् अद्भुत जैसा अनेकों में कोई एक होता है। **तथा श्रुत्वाऽप्यस्याऽऽत्मनः कुशलो निपुण एवानेकेषु [७]लब्धा कश्चिदेव भवति।** तथा इस आत्मातत्त्व को सुन कर भी अनेकों में कोई एक निपुण श्रोता इसे प्राप्त करता है। **यस्मादाश्चर्यो ज्ञाता कश्चिदेव कुशलानुशिष्टः[८] कुशलेन निपुणेनाऽऽचार्येणानुशिष्टः सन्।। ७।।** क्योंकि किसी कुशल अर्थात् निपुण आचार्य से उपदेश प्राप्त कर कोई एक जानने वाला आश्चर्य (दुर्लभ) होता है।। ७।। १. यः- जो तुमने पूछा है। २. 'मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये। गीता। ३. बहुभिः- अनेक कामना से आसक्त हैं इससे उनकी आत्मज्ञान के श्रवण में प्रवृत्ति नहीं होती। कहा भी है कि प्रायेण एवंविध एव लोक। प्रायशः लोग इस प्रकार के होते हैं। ४. शृण्वोन्तोऽपि- कामना आदि से थोड़ा सा विमुख हो कर श्रवण लाभ होने पर भी अन्य दोषों की बहुलता से ज्ञान के योग्य नहीं होते हैं। ५. इसे भगवान ने गीता में इसी मंत्र की व्याख्या करते हुए कहा है 'आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः। आश्चर्यवच्चेनमन्यः शृणोति श्रुत्वाऽप्येनं वेद न चैव कश्चित्।। २.२६। ६. अभागिनः- 'भागो रूपार्धके भाग्यैकदेशयोः। हैमः। आधा रूप (हिस्सा), भाग्य तथा एकदेश के अर्थ में भाग शब्द का प्रयोग होता है। ७. लब्धा- आत्मज्ञान में निष्ठा पूर्वक अपने आनन्द के अनुभवकर्ता। ८. अनुशिष्टः - 'यद्वाचानभ्युदितं इत्यादि वचनों से प्रबोधित होता हुआ।

**न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः।
अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्त्यणीयान्ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात्।। ८।।**

अवरेण नरेण प्रोक्तः एषः बहुधा चिन्त्यमानः न सुविज्ञेयः– अवर अर्थात् प्राकृत बुद्धि वाले (संसार में आसक्त अज्ञानी) पुरुष के द्वारा कहे जाने पर, अनेक प्रकार से चिन्तन करने पर भी, यह आत्म तत्त्व अच्छी प्रकार से नहीं जाना जा सकता है। **अनन्य प्रोक्ते अत्र गतिः न अस्ति**– ब्रह्म से अभिन्न आत्मज्ञानी द्वारा उपदेश किये जाने पर इस आत्मा में कोई गति नहीं है अर्थात् मरने के बाद है या नहीं इस प्रकार की चिन्ता नहीं है। **अणुप्र-माणात् अणीयान् हि अतर्क्यम्**– क्योंकि यह आत्मतत्त्व सूक्ष्म से भी सूक्ष्म और तर्क से परे है।। ८।।

नहि नरेण मनुष्येणावरेण प्रोक्तोऽवरेण हीनेन प्राकृतबुद्धिने-त्येतदुक्त एष आत्मा यं त्वं मां पृच्छसि न हि सुष्ठु सम्यग्विज्ञेयो विज्ञातुं शक्यो यस्माद्बहुधाऽस्ति नास्ति कर्ताऽकर्ता शुद्धोऽशुद्ध इत्याद्यनेकधा चिन्त्यमानो वादिभिः। जिस आत्मा के विषय में तुम पूछ रहे हो, वह अवर अर्थात् हीन, (प्राकृत) साधारण बुद्धि वाले मनुष्य के द्वारा कहे जाने पर (उपदेश किये जाने पर) अच्छी प्रकार से जाना नहीं जा सकता है। क्योंकि वादियों ने अस्ति, नास्ति, कर्ता, अकर्ता, शुद्ध और अशुद्ध, इस प्रकार अनेक प्रकार से चिन्तन किया है। १. नरेण – नरत्वोक्त्या न प्रवचने नारीप्रसंग इत्यवधेयम्। यहाँ नरत्व कथन से नारियों का उपदेश में प्रसक्ति नहीं है यह समझना चाहिए। **कथं पुनः सुविज्ञेय इत्युच्यतेअनन्यप्रोक्तेऽनन्येनापृथग्दर्शिनाऽऽचार्येण प्रतिपाद्य-ब्रह्मात्मभूतेन प्रोक्त उक्त आत्मनि गतिरनेकधाऽस्तिनास्तीत्यादिलक्षणा चिन्ता गतिरत्रास्मिन्नात्मनि नास्ति न विद्यते सर्वाविकल्पगतिप्रत्य-स्तमितत्वादात्मनः।** तो फिर अच्छी प्रकार से वह कैसे जाना जा सकता है, इस पर कहते हैं– अनन्य अर्थात् प्रतिपादित होने वाला ब्रह्म को आत्मा से अभिन्न रूप में साक्षात्कार करने वाले आचार्य के द्वारा उपदेश किये जाने पर, इस आत्मा के विषय में, गति अर्थात् अस्ति, नास्ति इत्यादि लक्षण वाली चिन्ता नहीं रहती है। क्योंकि आत्मा समस्त विकल्प रूप गति से रहित है। **अथवा**

स्वात्मभूतेऽनन्यस्मिन्नात्मनि प्रोक्तेऽनन्यप्रोक्ते गतिरत्रान्याऽवगतिर्नास्ति ज्ञेयस्यान्यस्याभावात्। अथवा अपने स्वरूपभूत अभिन्न आचार्य से उपदेश किये जाने पर, गति अर्थात् अन्य अवगति (किसी अन्य वस्तु का ज्ञान) शेष नहीं रह जाता। क्योंकि आत्मा से भिन्न जानने योग्य किसी अन्य वस्तु का अभाव है। **ज्ञानस्य ह्येषा परा काष्ठा यदात्मैकत्वविज्ञानम्। अतोऽवगन्तव्याभावान्न गतिरत्रावशिष्यते।** आत्मा का एकत्व ज्ञान ही ज्ञान की चरम सीमा है। इसलिए जानने योग्य पदार्थ के अभाव से और कोई गति अर्थात् अवगति शेष नहीं रह जाता। **संसारगतिर्वाऽत्र नास्त्यनन्य आत्मनि प्रोक्ते नान्तरीयकत्वात्त-द्विज्ञानफलस्य मोक्षस्य।** अथवा अनन्य आत्मा के उपदेश के बाद विज्ञान का फल मोक्ष में कोई व्यवधान न होने से संसार की गति नहीं है। **अथवा प्रोच्यमान ब्रह्मात्मभूतेनाऽचार्येण प्रोक्त आत्मन्यगति-रनवबोधोऽपरिज्ञानमत्र नास्ति। भवत्येवावगतिस्तद्विषया श्रोतुस्तद-स्म्यहमित्याचार्यस्येवेत्यर्थः।** अथवा आत्मभूत ब्रह्म (आत्मा हो गया ब्रह्म जिसकी) आचार्य से कहा गया (उपेदश किया गया) आत्मा में अन्यगति अर्थात् अनवबोध अर्थात् अपरिज्ञान नहीं है। श्रोता का 'वह ब्रह्म मैं हूँ' इस प्रकार आचार्य के समान ब्रह्म विषयक अवगति (ज्ञान) अवश्य होती ही है। **एवं सुविज्ञेय आत्माऽऽगमवताऽऽ-चार्येणानन्यतया प्रोक्तः। इतरथा ह्यणीयानणुप्रमाणादपि संपद्यत आत्मा।** इस प्रकार श्रोत्रिय आचार्य के द्वारा अभिन्न भाव से उपदेश किया गया आत्मा सुविज्ञेय होता है। अन्यथा आत्मतत्त्व समझने में सूक्ष्म से भी सूक्ष्म हो जाता है। अर्थात् परोक्ष हो जाता है। **अतर्क्यमतर्क्यः स्वबुद्ध्याऽभ्युहेन केवलेन तर्केण। तर्क्यमाणोऽणु-परिमाणो केनचित्स्थापित आत्मनि ततो ह्यणुतरमन्योऽभ्युहति ततो-ऽन्योऽणुतममिति न हि कुतर्कस्य निष्ठा क्वचिद्विद्यते।। ८।।** यह आत्मा अतर्क्य है अर्थात् अपनी बुद्धि के अभ्युह से (विचार से या अनुमान से), अर्थात् केवल तर्कसे जाना नहीं जाता है। तर्क करने पर भी आत्मा को कोई अणु परिमाण सिद्ध करने पर दूसरा

अणुतर और तीसरा अणुतम सिद्ध करता है। इसलिए कुतर्क की कोई सीमा या स्थिति नहीं है।। ८।। **टीका** - अणुत्वं परोक्षत्वम्। अणु अर्थात् परोक्ष।। ८।।

नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्ताऽन्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ। यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि त्वादृङ्नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा।। ९।।

प्रेष्ठ नचिकेतः एषा मतिः तर्केण न आपनेया– हे प्रियतम नचिकेता! जिसे तुमने प्राप्त की है, यह आगम पतिपाद्य आत्मबुद्धि तर्क मात्र से प्राप्त नहीं होती। अथवा इसे त्यागना उचित नहीं है। **अन्येन एव प्रोक्ता सुज्ञानाय (भवति)–** तार्किक से अन्य अर्थात् आगम अभिज्ञ आचार्य के द्वारा कही गयी यह विद्या सही ज्ञान के लिए होती है। **यां त्वं आपः–** जिस मति को तुमने प्राप्त की है, **सत्यधृतिर्बता असि–** तुम सत्यधृति वाला हो अर्थात् तेरी धृति (धैर्य) सत्य को विषय करने वाली है। **नः त्वादृक् प्रष्टा भूयान्–** हमें तेरे जैसे प्रश्न करने वाला आगे भी प्राप्त हो।। ९।।

अतोऽनन्यप्रोक्त आत्मन्युत्पन्ना येयमागमप्रतिपाद्यात्ममतिर्नैषा तर्केण स्वबुद्ध्यभ्यूहमात्रेणापनेया न प्रापणीयेत्यर्थः। नापनेतव्या वा न हातव्या। इसलिए ब्रह्म से अभिन्न आत्मदर्शी आचार्य के द्वारा कहे जाने पर आत्मा के विषय में उत्पन्न जो यह आगम से प्रतिपाद्य आत्मबुद्धि है, यह तर्क से अर्थात् अपनी बुद्धि के द्वारा विचार विमर्श से प्राप्त नहीं होती है। अथवा इस बुद्धि का त्याग नहीं करना चाहिए। **तार्किको ह्यनागमज्ञः स्वबुद्धिपरिकल्पितं यत्किंचिदेवं कथयति। अत एव च येयमागमप्रसूता मतिरन्येनैवाऽऽगमाभिज्ञेनाऽऽ-चार्येणैव तार्किकात्प्रोक्ता सती सुज्ञानाय भवति हे प्रेष्ठ प्रियतम।** आगम को नहीं जानने वाला तार्किक अपनी बुद्धि से कल्पित जो कुछ भी कह देता है। इसलिए हे प्रियतम! तार्किक से भिन्न, आगम के ज्ञाता आचार्य के द्वारा कहे जाने पर, यह आगम से उत्पन्न

बुद्धि, यथार्थ ज्ञान के लिए होता है। **का पुनः सा तर्कागम्या मतिरित्युच्यते। यां त्वं मतिं मद्वरप्रदानेनाऽऽपः प्राप्तवानसि।** तर्क से अगम्य वह मति (बुद्धि) कौन सी है इस पर कहते हैं। मेरे वर प्रदान से जिस बुद्धि को तुमने प्राप्त की है। **सत्याऽवितथविषया [1]धृतिर्यस्य तव स त्वं सत्यधृति[2]र्बतासीत्युनुकम्पयन्नाह मृत्युर्नचिकेतसं वक्ष्यमाण[3]विज्ञानस्तुतये।** सत्य अर्थात् यथार्थ विषयक धृति जिस तुम्हारी है वह तुम सत्यधृति हो। बत अर्थात् अनुकम्पा करते हुए मृत्यु देवता ने आगे कहे जाने वाले विज्ञान की स्तुति के लिए नचिकेता से कहा। **त्वादृक्त्वत्तुल्यो नोऽस्मभ्यं भूयाद्भवत्वन्यः पुत्रः शिष्यो वा प्रष्टा। कीदृग्यादृक्त्वं हे नचिकेतः प्रष्टा।। ९।।** तुम्हारे जैसे पूछने वाला हमें फिर से पुत्र या शिष्य मिले।। ९।। १. धृति– 'नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते' इत्यादि से सूचित धृति अर्थात् धैर्य। २. बत यह निपात अनुकंपा को प्रकाशित करता है। 'खेदानुकम्पासंतोषविस्मयामन्त्रणे बत' अमर कोष। ३. विज्ञानस्तुतये – तुम जैसे सत्यधृति वाला ही आत्मविद्या का अधिकारी हो सकता है दूसरा प्राकृत पुरुष नहीं, इस प्रकार शिष्य के गुण के कथन से विद्या की स्तुति की गयी है।

जानाम्यहꣳशेवधिरित्यनित्यं न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्। ततो मया नाचिकेतश्चितोऽग्निरनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम्।। १०।।

शेवधिः अनित्यं इति अहं जानामि– कर्मफल लक्षण वाली निधि अर्थात् धन अनित्य है यह मैं जानता हूँ। **अध्रुवैः हि तत् ध्रुवं न प्राप्यते–** अनित्य साधनों से वह नित्य (ब्रह्म) प्राप्त नहीं होता। **ततः मया नाचिकेतः अग्निः चितः–** इस प्रकार जानते हुए भी मैंने नाचिकेत अग्नि का चयन किया था, **अनित्यैः द्रव्यैः नित्यं प्राप्तवान् अस्मि–** और उन अनित्य द्रव्यों से मैंने आपेक्षिक नित्य (यम पदवी) को प्राप्त किया हूँ।। १०।।

टीका– जानते हुए भी मैंने अनेक कष्टसाध्य कर्म किया परन्तु देने पर भी वे फल तुमने ग्रहण नहीं किया इसलिए मुझ से अधिक बुद्धि वाले हो, इस प्रकार

सन्तोष से स्तुति करता है- [1]**पुनरपि तुष्ट आह- जानाम्यहं [2]शेवधिर्निधिः कर्मफललक्षणो निधिरिव प्रार्थ्यत इति। असावनित्यमनित्य इति [3]जानामि।** फिर से प्रसन्न होकर यम ने कहा- कर्मफल धन के समान प्रार्थना की जाती है इसलिए वह निधि अर्थात् धन है। मैं जानता हूँ (था) कि कर्मफल लक्षण वाला धन अनित्य है। **न हि यस्मादनित्यैरध्रुवैर्नित्यं ध्रुवं तत्प्राप्यते परमात्माख्यः शेवधिः। यस्त्वनित्यसुखात्मकः शेवधिः स एवानित्यैर्द्रव्यैः प्राप्यते।** क्योंकि अध्रुव अर्थात् अनित्य वस्तु से वह ध्रुव (नित्य) परमात्मा नाम वाला शेवधि (धन) प्राप्त नहीं होता है। जो अनित्य असुख (दुःख) रूप धन है वह अनित्य द्रव्यों से प्राप्त होता है। **हि यतस्ततस्तस्मान्मया [3]जानताऽपि नित्यमनित्यसाधनैर्न प्राप्यत इति नाचिकेतश्चितोऽग्नि-रनित्यैर्द्रव्यैः [4]पश्वादिभिः स्वर्गसुखसाधनभूतोऽग्नि[5]र्निर्वर्तित इत्यर्थः।** जिसलिए ऐसी बात है कि नित्य (ब्रह्म) अनित्य वस्तु से प्राप्त नहीं होता है, इसलिए यह जानते हुए भी मैंने अनित्य (यज्ञिय) पशु आदि द्रव्यों से, स्वर्गसुख के साधन रूप नाचिकेत अग्नि का चयन किया था। **तेनाहमधिकारापन्नो नित्यं याम्यं स्थानं स्वर्गाख्यं नित्यमा-पेक्षिकं प्राप्तवानस्मि।। १०।।** उस नाचिकेत अग्नि के चयन से मैंने स्वर्ग नाम वाला अधिकार संपन्न आपेक्षिक नित्य यम पदवी को प्राप्त किया हूँ।। १०।। १. पुनरपि- फिर खुश हो कर कहा, इससे सूचित होता है कि पहले कहे गये अनुकंपा खुशी के कारण थी क्योंकि ज्यादातर अनुकम्पा दीनता का विषय होता है। २. शेवधि- 'निधिर्नाशेवधिर्भेदाः पद्मशंङ्खादयोनिधेः।' अमरकोष। ३. जानामि- जानता था। ४. पश्वादिभिः- यज्ञिय पशु आदि से। आदि से घृत आदि का ग्रहण किया जाता है। ५. निर्वर्तित- चयन विधि से अनुष्ठित।

कामस्याऽऽप्तिं जगतः प्रतिष्ठां क्रतोरनन्त्यमभयस्य पारम्। स्तोममहदुरुगायं प्रतिष्ठां दृष्ट्वा धृत्या धीरो नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः।। ११।।

कामस्य आप्तिम्- समस्त कामनाओं की समाप्ति, **जगतः प्रतिष्ठाम्-** संसार की प्रतिष्ठा, **क्रतोः अनन्त्यम्-** यज्ञ का अनन्त

हिरण्यगर्भ पद रूप फल, **अभयस्य पारम्**– अभय का पार अर्थात् परम निष्ठा, **स्तोममहदुरुगायं प्रतिष्ठाम्**– स्तोम अर्थात् स्तुति के योग्य, महान् विस्तीर्ण, प्रतिष्ठा हिरण्य गर्भ पदवी को **धृत्या दृष्ट्वा धीरः नचिकेतः अत्यस्राक्षीः**– धैर्यता से देख कर धीर (धैर्य से युक्त) नचिकेता! तुमने त्याग दिया।। ११।।

त्वं तु कामस्याऽऽप्तिं समाप्तिमत्र हि सर्वे कामाः परिसमाप्ताः जगतः साध्यात्माधिभूताधिदैवादेः प्रतिष्ठामाश्रयं सर्वात्मत्वात्, क्रतोः फलं हैरण्यगर्भं पदमनन्त्यमानन्त्यम्। तुमने तो काम की आप्ति अर्थात् समाप्ति, क्योंकि यहाँ (हिरण्यगर्भ में) समस्त कामना परिसमाप्त हो जाते हैं, सर्वात्मा होने से अध्यात्म–अधिभूत–अधिदैव आदि साध्य जगत की प्रतिष्ठा अर्थात् आश्रय, हिरण्यगर्भ पद रूप यज्ञ का अनन्त फल, **अभयस्य च पारं परां निष्ठाम्। स्तोमं स्तुत्यं महदणिाद्यैश्वर्याद्यनेकगुणसंहतं स्तोमं च तन्महच्च निरतिशयत्वात्स्तो–ममहत्।** अभय का पार अर्थात् परम निष्ठा। स्तोम अर्थात् स्तुति के यौग्य, महत् अर्थात् अणिमादि ऐश्वर्य आदि अनेक गुणों से युक्त, जो स्तोम है और महत् भी है वह निरतिशय होने से स्तोममहत् है। **उरुगायं विस्तीर्णागतिम्। प्रतिष्ठां स्थितिमात्मनोऽनुत्तमामपि दृष्ट्वा धृत्या धैर्येण धीरो धीमान्सन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः [1]परमेवाऽऽकाङ्क्षन्न–तिसृष्टवानसि [2]सर्वमेतत्संसारभोगजातम्। अहो बतानुत्तमगुणोऽसि।। ११।।** उरुगाय अर्थात् विस्तृत गति (फल)। प्रतिष्ठा अर्थात् प्रतिष्ठा अर्थात् आत्मा की श्रेष्ठ स्थिति, इन सब को देखकर धैर्य के साथ हे धीर बुद्धिमान् नचिकेता! पर (मुक्ति) की इच्छा रखते हुए यह समस्त भोग समूहों को त्याग दिया। अहो! (बत) विस्मय या संतोष की बात है कि तुम अति उत्तम गुणवाला हो।। ११।।

यहाँ टिपण्णीकार ने कुछ अलग प्रकार से अर्थ लगाया है। वह इस प्रकार है– काम की प्राप्ति अर्थात् मुक्तिपद विशुद्ध ब्रह्म विवक्षित है। वह ब्रह्म जगत् की प्रतिष्ठा है। अन्त्यते बध्यते जिस यज्ञ के फल से जीव बन्धता है वह अन्त्यं उससे भिन्न अनन्त्य है ब्रह्म। वह स्तोम अर्थात् स्तुति के योग्य है। महान् है। उरुगाय अर्थात् विस्तिर्ण है। उस ब्रह्म आत्मा की प्रतिष्ठा को देख कर अर्थात् आत्मा की तदात्मा रूप में

अवस्थिति को संपादन कर अर्थात् निश्चय कर, जो मैंने अनित्य पद प्राप्त किया है उसे तुमने त्याग दिया। (परंतु मुझे यह पसंद नहीं आया क्योंकि यदि नचिकेता तदात्म रूप अवस्थिति को प्राप्त किया है तो फिर आत्मा को विषय करने वाला प्रश्न नहीं बन सकता है। इसलिए भाष्यकार द्वारा किया गया अर्थ ही सही है।) १. परमेव- परम पद मुक्ति। २. सर्वम्- हिरण्यगर्भ पद की उपलक्षणा से सब।

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्। अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति।। १२।।

दुर्दशम्- दुःख से जानने योग्य, **गूढम्** -गहन, **अनुप्रविष्टम्-** विषय-विकार के ज्ञानों से प्रच्छन्न, **गुहाहितम्-** बुद्धि रूप गुफा में स्थित, **गह्वरेष्ठम्-** अनेक अनर्थ संकट में स्थित, **पुराणम्-** पुरातन, **अध्यात्मयोगाधिगमेन-** अध्यात्मयोग के अधिगम के द्वारा **तं देवं मत्वा-** उस देव को जान कर **धीरः हर्षशोकौ जहाति-** बुद्धिमान् हर्ष और शोक को त्याग देता है।। १२।।

टीका- जो तुमने देह से व्यतिरिक्त (अलग) आत्मा के विषय में पूछा था, उस आत्मा के परमार्थ स्वरूप का ज्ञान, संसार का निवर्तक और परमानन्द प्राप्ति का साधन है और [1]धर्म्य अर्थात् श्रेष्ठ धर्म रूप है, [2]इससे श्रेष्ठ श्रेय का साधन और कोई नहीं इस प्रकार पूछे गये वस्तु की प्रशंसा से पूछनेवाले की प्रशंसा करते हैं।

यं त्वं ज्ञातुमिच्छस्यात्मानं तं दुर्दर्शं दुःखेन दर्शनमस्येति दुर्द-र्शमतिसूक्ष्मत्वात्तम्। तुम जिस आत्मा को जानना चाहते हो वह दुर्दर्श है अर्थात् अति सूक्ष्म होने से इसका दर्शन दुःख से होता है। (दर्शन कष्टसाध्य है)। **गूढं [3]गहनमनुप्रविष्टं प्राकृतविषयविकारविज्ञानैः प्रच्छन्नमितित्येत्।** वह आत्मा गूढ़ है अर्थात् गहन अनुप्रविष्ट है (गहरी पैठ वाला) अर्थात् साधारण विषयों के विकार-विज्ञान से प्रच्छन्न है। **गुहाहितं गुहायां बुद्धौ स्थितं तत्रोपलभ्यमानत्वात्।** गुहाहित है अर्थात् बुद्धि रूप गुफा में स्थित है, क्योंकि वहाँ उसकी उपलब्धि होती है। **गह्वरेष्ठं गह्वरे विषमेऽनेकानर्थसङ्कटे तिष्ठतीति गह्वरे-ष्ठम्।** गह्वर में (गड्ढे में) अर्थात् अनेक अनर्थ संकट(खतरों) में

रहता है इससे गह्वरेष्ठ है। **यत एवं गूढमनुप्रविष्टो गुहाहितश्चातो गह्वरेष्टः। अतो दुर्दर्शः।** जिससे गूढ अनुप्रविष्ट है और गुहाहित है इससे वह गह्वरेष्ट है। गह्वरेष्ट होने से दुर्दर्श है। **तं पुराणं पुरातनमध्यात्मयोगाधिगमेन विषयेभ्यः प्रतिसंहृत्य चेतस आत्मनि समाधानमध्यात्मयोगस्तस्याधिगमस्तेन मत्वा देवमात्मानं धीरो धीमान्हर्षशोकावात्मन उत्कर्षापकर्षयोरभावाज्जहाति।। १२।।** उस पुराण अर्थात् पुरातन देव अर्थात् आत्मा को अध्यात्म योग के अधिगम के द्वारा अर्थात् विषयों से मन को हटा कर आत्मा में समाहित कर, उसे जान कर, धीर अर्थात् बुद्धिमान् अपने उत्कर्ष (वृद्धि,समृद्धि,उन्नत्ति, या मान) अपकर्ष (ह्रास,अवनति,अपमान) के अभाव के कारण हर्ष और शोक को त्याग देता है।। १२।। १. धर्म्यं- परमानन्द के साधन होने से परम धर्मरूप है। धर्म के अधीन सुख होता है यह प्रसिद्ध है। २. आगे कहने वाले 'विवृतं सद्म' को देखते हुए कहते हैं कि इससे श्रेष्ठ इत्यादि। ३. गहनं- गहन देश।

एतच्छ्रुत्वा संपरिगृह्य मर्त्यः प्रवृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य। स मोदते मोदनीँहि लब्ध्वा विवृतँसद्म नचिकेतसं मन्ये।। १३।।

एतत्- मैं जिस आत्मतत्त्व को बताने वाला हूँ इसे **मर्त्यः**- मरण धर्म वाला मनुष्य, **श्रुत्वा**- सुन कर, **संपरिगृह्य**- आत्मभाव से ग्रहण कर, **प्रवृह्य**- शरीर आदि से पृथक् कर, **धर्म्यं**- धर्म से अनपेत (संपन्न), **अणुं**- सूक्ष्म, **एतम्**- इस आत्मा को, **आप्य**- प्राप्त कर, **मोदनीयं**- हर्ष के योग्य, (आत्मा को) **लब्ध्वा**- प्राप्त कर, **मोदते**- आनन्दित होता है। आत्मानन्द में मग्न हो जाता है। **नचिकेतसं**- नचिकेता के लिए, **विवृतं** - खुला हुआ द्वार वाला, **सद्म**- ब्रह्म का भवन, है **मन्ये**- यह मैं मानता हूँ।। १३।।

किंचैतदात्मतत्त्वं यदहं वक्ष्यामि तच्छ्रुत्वाऽऽचार्यप्रसादात्सम्यगात्मभावेन परिगृह्योपादाय मर्त्यो मरणधर्मा [१]धर्मादनपेतं धर्म्यं प्रवृह्यो[२]द्यम्य [३]पृथक्कृत्य शरीरादेरणुं सूक्ष्ममेतमात्मानमाप्य प्राप्य स मर्त्यो

विद्वान्मोदते मोदनीयं [४]**हर्षणीयमात्मानं लब्ध्वा।** और भी इस आत्मतत्त्व को, जिसे मैं तुझे कहने जा रहा हूँ, उसे सुनकर अर्थात् आचार्य की कृपा से अच्छी तरह आत्मभाव से ग्रहण कर मरण धर्म वाला मनुष्य, धर्म से संपन्न, शरीर आदि से अलग कर, अणु अर्थात् सूक्ष्म, इस आत्मा को प्राप्त कर, वह विद्वान् मनुष्य, हर्ष के विषय उस आत्मा को लाभ कर, आनन्दित होता है। **तदेवंविधं ब्रह्मसद्म भवनं नचिकेतसं त्वां प्रत्यपावृतद्वारं विवृतमभिमुखीभूतं मन्ये मोक्षार्हं।। १३।।** वह इस प्रकार के ब्रह्म भवन के द्वार (दरबाजा) तुम नचिकेता के प्रति खुला हुआ है अर्थात् तुम्हारे अभिमुख है अर्थात् तुम मोक्ष के योग्य हो, यह मैं मानता हूँ।। १३।। १. धर्मादनपेतं- धर्म कोटि में प्रविष्ट। कहा गया है 'अयं तु परमो धर्मो यद्योगे-नात्मदर्शनम्।' योग के द्वारा आत्मा का साक्षात्कार परम धर्म है। अथवा धर्म से अनपेत अर्थात् धर्म से उपेत (युक्त)। अर्थात् धर्म से प्राप्त होने योग्य। यह आत्मतत्त्व का विशेषण है और अर्थ से ज्ञान में धर्मत्व है। २. उद्यम्य- वृहू उद्यमने इस धातु के अर्थ को लेकर प्रवृह्य का अर्थ करते हैं उद्यम इस प्रकार। ३. पृथक्कृत्य- जो उद्यत होता है वह अलग होता है इस प्रकार गौण अर्थ लेकर कहते हैं पृथक करके। ४. मुद हर्षे इस धातु से अनीयर् प्रत्यय हुआ है। मोदनीय अर्थात् हर्षणीय।

[१]**अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्। अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यति तद्वद।। १४।।**

नचिकेता ने कहा- **धर्मात् अन्यत्र**-जो धर्म से अलग है **अधर्मात् अन्यत्र**-और अधर्म से अलग है, **अस्मात् कृताकृतात् अन्यत्र**-जो इस कार्य और कारण से पृथक् है, **भूतात् च भव्यात् च अन्यत्र**-जो भूत, भविष्यत् तथा (वर्तमान) से पृथक् है, **यत् पशति तत् वद**- ऐसी वस्तु जो आप जानते हैं, उसे मुझे कहो (उपदेश करो)।। १४।।

टीका- यदि पहले पूछा गया देह से व्यतिरिक्त (भिन्न) आत्मा के परमार्थ स्वरूप का ज्ञान ही श्रेय का साधन है, तब उसे ही कहो इस पर भाष्यकार कहते हैं- **यद्यहं योग्यः प्रसन्नश्चासि भगवन्मां प्रत्यन्यत्र धर्माच्छास्त्रीयाद्धर्मानुष्ठानात्तत्फलात्तत्कारकेभ्यश्च पृथग्भूतमित्यर्थः।** यदि

मैं (ज्ञान प्राप्त करने के) योग्य हूँ, और आप मुझ पर प्रसन्न हैं, तो जो धर्म से अन्यत्र अर्थात् शास्त्रीय धर्म अनुष्ठान, उसके फल, तथा उसके कारकों से पृथक है यह अर्थ है। **तथाऽन्यत्राधर्मात्तथाऽन्यत्रास्मात्कृताकृतात्। कृतं कार्यमकृतं कारणमस्मादन्यत्र।** तथा जो अधर्म से पृथक् है। तथा जो कृत और अकृत से पृथक् है। कृत अर्थात् कार्य और अकृत अर्थात् कारण। (जो संसार रूप कार्य और उसका कारण अविद्या से पृथक् है) **किंचान्यत्र भूताच्चातिक्रान्तात्कालाद्भव्याच्च भविष्यतश्च तथा वर्तमानात्। कालत्रयेण यन्न परिच्छिद्यत इत्यर्थः।** और भी जो भूत अर्थात अतीत काल से तथा भव्य अर्थात् भविष्यत से एवं वर्तमान से पृथक् है। जो तीनों काल से परिच्छिन्न नहीं है यह अर्थ है। **यदीदृशं वस्तु सर्वव्यवहारगोचरातीतं पश्यसि जानासि तद्वद मह्यम्।। १४।।** यदि इस प्रकार के समस्त व्यवहार विषयों से अतीत वस्तु को आप जानते हैं, तो उसे मुझे उपदेश करो।। १४।। टीका- पहले पूछे गये वस्तु के विषय में पूछने के कारण वरदान से अतिरिक्त कोई अपूर्व वस्तु विषयक यह प्रश्न है, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए। पहले पूछे गये आत्मा के यथार्थ स्वरूप वाला प्रश्न के पूछे गये वस्तु के ज्ञान के साधन (प्रणव उपासना आदि) अन्य विशेषण कहने के लिए यह अर्थ है। १. अन्यत्र- तं दुर्दशं इत्यादि वर्णन को सुन कर सामान्य रूप से तत्त्व को जानते हुए विशेष रूप से जानने के लिए यह प्रश्न है।

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपाँसि सर्वाणि च यद्वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदँसंग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्।। १५।।

सर्वे वेदाः यत् पदं आमनन्ति–समस्त वेद जिस पद का प्रतिपादन करते हैं, **सर्वाणि च तपांसि यत् वदन्ति**–सारे तप जिसे प्राप्त करने के लिए किये जाते हैं, **यत् इच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति**– जिस को प्राप्त करने की इच्छा से ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं (गुरुकुल मे निवास करते हुए गुरु की सेवा करते हैं), **ते संग्रहेण**

तत् पदं ब्रवीमि-तुझे संक्षेप से उस पद को कहता हूँ। **एतत् ओम् इति**- यह ओम् है।। १५।।

सर्वे वेदा यत्पदं पदनीयं गमनीयमविभागेनाऽऽमनन्ति प्रति-पादयन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति यत्प्राप्त्यर्थानीत्यर्थः। समस्त वेद जिस पद को अर्थात् पदनीय अर्थात् गमनीय (प्राप्त करने योग्य वस्तु को) अविभाग (अभेद) से प्रतिपादन करते हैं; समस्त तप जिसे कहते हैं अर्थात् जिसकी प्रप्ति के लिए समस्त तप है। **टीका-** सर्वे वेदा अर्थात् वेद के एकदेश सभी उपनिषत्। सर्वे वेदा आदि वाक्य से यह सिद्ध होता है कि उपनिषदों का ज्ञान में साक्षात् विनियोग है और (उन कर्मकाण्ड रूप वेदोंका) तप कर्म है अर्थात् शुद्धि के द्वारा ज्ञान के साधन हैं। **यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं गुरुकुलवासलक्षणमन्यद्वा ब्रह्मप्राप्त्यर्थं चरन्ति तत्ते तुभ्यं पदं यज्ज्ञातुमिच्छसि** जिसकी इच्छा करते हुए गुरुकुल में निवास लक्षण वाला ब्रह्मचर्य का आचरण (पालन) करते हैं, और भी ब्रह्म की प्राप्ति के लिए जो आचरण (शम दम आदि का अभ्यास) करते हैं; उस पद को जिसे तुम जानना चाहते हो, **टीका-** विचार में असमर्थ मन्द अधिकारी के लिए क्रम से ज्ञान के साधन को संक्षेप से कहते हैं- **संग्रहेण संक्षेपतो ब्रवीमि, ओमित्येतत्। तदेतत्पदं यद्बुभुत्सितं त्वया यदेतदोमित्योंशब्दवाच्यमोंशब्दप्रतीके च।। १५।।** संक्षेप से कहता हूँ, यह बस ओम् है। तुम जिसे जानना चाहता था वह यह पद है, जो ओं शब्द का वाच्य है और ओम् जिसका प्रतीक है।। १५।। टीका- जिस शब्द के उच्चारण से जिस वस्तु का स्फुरण होता है वह उसका वाच्य है यह [१]प्रसिद्ध है। समाहित चित्त वाला का [२]ओंकार उच्चारण करने पर जिस विषयक अनुपरक्त संवेदन स्फुरित होता है उसे ओंकार के अवलम्बन के द्वारा वाच्य ब्रह्म का ध्यान करना चाहिए। इसमें असमर्थ हो तो ओंकार शब्द में [३]ब्रह्मदृष्टि करें। यह अर्थ है।। १५।।

१. प्रसिद्ध- घट आदि शब्द उच्चारण से घट शब्द के वाच्य कम्बुग्रीवा आदि व्यक्ति का स्फुरण (बोध) होता है, यह प्रसिद्ध है। २. जैसे घट आदि शब्द उच्चारण से घट आदि विषय से अवच्छिन्न का स्फुरण होता है वैसे ओंकार वाच्य कहने से ऐसा नहीं होता है। इसे कहते हैं- विषय अनुपरक्त शब्द से। ओंकार का तो वाचक रूप से

उपरंजक विषय कोटि में निवेश न होने से उससे विषय उपरक्तता नहीं है। ३. ब्रह्मदृष्टि– प्रतिमा में विष्णु बुद्धि के समान यह ओम् शब्द ब्रह्म है, ऐसी भावना करें।

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्। एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्।। १६।।

एतत् ही एव अक्षरं ब्रह्म–यह ओंकार अक्षर ही ब्रह्म (ईश्वर) है। **एतत् ही एव अक्षरं परम्**–यह अक्षर ही पर (निर्गुण) ब्रह्म है। **एतत् ही अक्षरं ज्ञात्वा**– इस अक्षर को जानकर, **यः यत् इच्छति तस्य तत्**– जो जिस की इच्छा करता है उसका वह होता है। अर्थात् परं ब्रह्म जानने योग्य और अपर ब्रह्म प्राप्त करने योग्य होता है।। १६।।

अत एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्मापरमेतद्ध्येवाक्षरं परं च। तयोर्हि प्रतीकमेतदक्षरम्। एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वोपास्य ब्रह्मेति यो यदिच्छति परमपरं वा तस्य तद्भवति। परं चेज्ज्ञातव्यमपरं चेत्प्राप्तव्यम्।। १६।।

इसलिए यह ओंकार अक्षर ही अपर ब्रह्म है और यह अक्षर ही पर ब्रह्म है। इन दोनों का यह अक्षर प्रतीक है। इस अक्षर को ब्रह्म रूप में जान कर अर्थात् उपासना कर, पर या अपर में से जो जिसे चाहता है उसे वह होता है। पर हो तो ज्ञातव्य (जानने योग्य) और अपर हो ता प्राप्तव्य (प्राप्त करने के योग्य) होता है।। १६।।

एतदालम्बनँ श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्। एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते।। १७।।

एतत् आलम्बनं श्रेष्ठम्– यह ओंकार श्रेष्ठ आलंबन है। **एतत् आलम्बनं परम्**– यह पर और अपर ब्रह्म के आलम्बन है। **एतत् आलम्बनं ज्ञात्वा**– इस आलम्बन को जान कर **ब्रह्मलोके महीयते**– ब्रह्मलोक में महिमा को प्राप्त होता है।। १७।।

यत एवमत एतदालम्बनमेतद्ब्रह्मप्राप्त्यालम्बनानां श्रेष्ठं प्रश–स्यतमम्। एतदालम्बनं परमपरं च परापराब्रह्मविषयत्वात्। एतदाल–

म्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते। परस्मिन्ब्रह्मण्य [१]परस्मिंश्च ब्रह्मभूतो ब्रह्मवदुपास्यो भवतीत्यर्थः।। १७।। जिसलिए ऐसा है (जिसलिए यह अक्षर, पर और अपर ब्रह्म है) इसलिएयह आलम्बन, ब्रह्म-प्राप्ति के आलम्बनों में श्रेष्ठ है अर्थात् श्रेष्ठतम है। पर और अपर को विषय करने से यह पर और अपर का आलम्बन है। इस आलम्बन को जान कर अर्थात् इस आलम्बन के द्वारा उपासना करने पर ब्रह्मलोक में महिमा को प्राप्त करता है। पर ब्रह्म की उपासना से ब्रह्मस्वरूप हो जाता है, और अपर ब्रह्म की उपासना से ईश्वर के समान उपास्य हो जाता है।। १७।। १. अपरस्मिंश्च- अपर ब्रह्म की उपासना से महीयते यह मेल खाता है।

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।। १८।।

विपश्चित्- सदा विद्यमान चैतन्य स्वभाव मेधावी, **न जायते म्रियते वा**- न उत्पन्न होता है और न मरता है। **न अयं कुतश्चित् बभूव**- यह किसी अन्य कारण से उत्पन्न नहीं हुआ है। **न कश्चित् (बभूव)**- अपने आप से बदल कर भी नहीं उत्पन्न हुआ है। **अयं अजः नित्यः शाश्वतः**- यह अजन्मा, नित्य और शाश्वत अर्थात् क्षय से रहित है। **शरीरे हन्यमाने (अयं) न हन्यते**- शरीर के नाश से इसका नाश नहीं होता है। (विपश्चित्- वि+प्र+चित्+क्विप् विप्रकृष्टं चिनोति चेतति चिन्तयति इति विपशित् मेधावी। जो दूर तक चिन्तन करता है)

टीका- साधन हीन के लिए उपदेश अनर्थक है, यह समझते हुए, (परापर ब्रह्म की उपासना रूप) उच्च-नीच (परापर ब्रह्म की उपासना रूप) अवगति के साधन कह कर पूछा गया (आत्मा का स्वरूप) जिसे कहना चाहिए, उसे कहने के लिए उपक्रम करते हैं- **अन्यत्र धर्मादित्यादिना पृष्टस्याऽऽत्मनोऽशेषविशेषरहितस्याऽऽ[१]लम्बनत्वेन प्रतीकत्वेन चोंकारो निर्दिष्टः, अपरस्य च ब्रह्मणो मन्दमध्यमप्रतिपतॄन्प्रति। अथेदानीं तस्योंकारालम्बनस्याऽऽत्मनः साक्षात्स्वरूपनिर्दिधारयिषयेदमुच्यते- न जायते**

'अन्यत्र धर्मात्' इत्यादि मंत्रों से पूछा गया, समस्त विशेष रहित आत्मा का आलम्बन और प्रतीक रूप से ओंकार का निर्देश किया गया। और मन्द और मध्यम अधिकारी उपासकों के लिए अपर ब्रह्म के आलम्बन और प्रतीक रूप से भी यह कहा गया। अब उस ओंकार आलम्बन आत्मा का साक्षात् स्वरूप निर्धारण करने की इच्छा से यह कहा जाता है- न जायते इत्यादि मंत्रों से।

१. आलम्बत्वेन- वाचक रूप से ध्यान का अंग होना यह आलम्बन है तथा ध्यान के प्रति अधिकरण (आश्रय) होना यह प्रतीक है।

न जायते नोत्पद्यते म्रियते वा न म्रियते चोत्पत्तिमतो वस्तुनो-ऽनित्यस्यानेकविक्रियास्तासामाद्यन्ते जन्मविनाशलक्षणे विक्रिये इहाऽऽ-त्मनि प्रतिषिध्येते प्रथमं [१]सर्वविक्रियाप्रतिषेधार्थं न जायते म्रियते वेति। विपश्चिन्मेधावी, अविपरिलुप्तचैतन्यस्वभावत्वात्। यह विपश्चित् अर्थात् अविपरिप्लुत (नित्य) चैतन्य स्वभाव होने से मेधावी न उत्पन्न होता है न मरता है। उत्पत्ति वाले अनित्य वस्तु का अनेक विक्रिया होती है। समस्त विक्रियाओं के प्रतिषेध के लिए, उन का जन्म और विनाश लक्षण वाला आदि और अन्त विक्रिया का यहाँ पहले आत्मा में प्रतिषेध किया जाता है- न जायते म्रियते वा इससे।

१. सर्वविक्रियाप्रतिषेधार्थम्- आदि और अन्त के प्रतिषेध से बीच के भी निषध अर्थ होता है।

किंच नायमात्मा कुतश्चित्कारणान्तराद्बभूव। स्वस्माच्चा-ऽत्मनो न बभूव कश्चिदर्थान्तरभूतः। और भी यह आत्मा किसी अन्य कारण से उत्पन्न नहीं होता है। और अपनी आत्मा से किसी अन्य रूप में उत्पन्न नहीं होता है। **अतोऽयमात्माऽजो नित्यः शाश्वतोऽपक्षयविवर्जितः। यो ह्यशाश्वतः सो[२]ऽपक्षीयते।** इसलिए यह आत्मा अजन्मा है, नित्य है, और शाश्वत है अर्थात् अपक्षय से रहित है। जो अशाश्वत होता है वह क्षीण होता है अर्थात् उसका अपक्षय(ह्रास) होता है।

२. अपक्षीयते- अपयक्ष से विपरिणाम आदि का ग्रहण है।

अयं तु शाश्वतोऽत एव पुराणः पुराऽपि नव एवेति। यो ह्यवय-वोपचयद्वारेणाभिनिर्वर्त्यते स इदानीं नवो यथा कुम्भादिस्तद्विपरी-

स्त्वात्मा पुराणो वृद्धिविवर्जित इत्यर्थः। यह आत्मा शाश्वत है इसलिए पुराण है अर्थात् प्राचीन होता हुआ नया ही है। घट आदि के समान जो अवयव उपचय (वृद्धि) के द्वारा निष्पन्न होता है, वह अब नया है। आत्मा उससे विपरीत है अर्थात् वृद्धि विवर्जित है। **यत एवमतो न हन्यते न हिंस्यते हन्यमाने शस्त्रादिभिः शरीरे। तत्स्थोऽप्याकाशवदेव।। १८।।** जिसलिए आत्मा इस प्रकार है, इसलिए शस्त्र आदि से मारे जाने पर भी नहीं नहीं मरता। तात्पर्य यह है कि शरीर में रहते हुए आकाश के समान नष्ट नहीं होता है।। १८।। जैसे घट के नष्ट होने पर घटस्थ आकाश का नाश नहीं होता है वैसे शरीर के नाश होने पर शरीरस्थ आत्मा का नाश नहीं होता है।

टीका- अगर आत्मा से भिन्न ब्रह्म है तो उसका जन्म आदि के अभाव होने से अप्राप्त का निषेध होगा, इसलिए जन्मादि के प्रतिषेध से ब्रह्म का उपदेश करते हुए वह आत्मस्वरूप है, श्रुति यह उपदेश करती है, यह जाना जाता है। आत्मा के मरण को ले कर जो नास्तित्व की आशंका थी, यहाँ मरण के अभाव के कथन से अस्तित्व विषयक प्रश्न का भी यह कथन होता है। यह समझना चाहिए।। १८।।

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुँ हतश्चेन्मन्यते हतम्। उभौ तौ न विजानीतो नायँ हन्ति न हन्यते।। १९।।

हन्ता चेत् हन्तुं मन्यते- यदि मारने वाला सोचता है कि मैं मारूँगा, **हतः चेत् हतं मन्यते**- और यदि मारा गया व्यक्ति सोचता है कि मैं (आत्मा) मारा गया। **तौ उभौ न विजानीतः**- वे दोनों आत्मा के स्वरूप को नहीं जानते हैं। **अयं न हन्ति न हन्यते**- यह आत्मा न किसी को मारता है न मारा जाता है (खुद मरता है)।। १९।।

एवंभूतमप्यात्मानं शरीरमात्रात्मदृष्टिर्हन्ता चेद्यदि मन्यते चिन्तयति हन्तुं हनिष्याम्येनमिति योऽन्यो हतः सोऽपि चेन्मन्यते हतमात्मानं हतोऽहमित्युभावपि तौ न विजानीतः स्वमात्मानं यतो नायं हन्ति अविक्रियत्वादात्मनस्तथा न हन्यत आकाशवदविक्रियत्वादेव। इस

प्रकार स्वरूप वाला आत्मा को भी, शरीर मात्र में आत्म-दृष्टि वाला किसीको मारने वाला (मारने की इच्छा से) यदि सोचता है कि मैं इसको मारूँगा; तथा जो दूसरा मारा गया व्यक्ति, वह भी यदि अपनी आत्मा को मरा हुआ सोचता है अर्थात् मैं मारा गया; वे दोनों भी अपनी आत्मा को स्वरूप से नहीं जानते हैं, क्योंकि यह आत्मा अविक्रिय होने से न मारता है, तथा आकाश के समान अविक्रिय होने से न मरता है। **टीका-** यदि आत्मा अविक्रिय है तो धर्म और अधर्म के अधिकारी के अभाव से संसार का उपलम्भ (अनुभव या निश्चय) किसी को नहीं होना चाहिए ऐसी आशंका करके कहते हैं-

अतो[1]ऽनात्मज्ञविषय एव धर्माधर्मादिलक्षणः संसारो न ब्रह्मज्ञस्य इसलिए धर्म और अधर्म आदि लक्षण वाला संसार अज्ञानी का विषय है (अज्ञानी को आश्रित करता है) ब्रह्मज्ञानी का विषय नहीं है। **टीका**- जो प्रवृत्ति अज्ञान से है वह ज्ञान से कैसे हो सकती है, इस न्याय से भी आत्मज्ञानी के लिए धर्मादि संभव नहीं है, इसलिए आत्मज्ञानी सदा मुक्त ही है, इसे कहते हैं- **श्रुतिप्रामाण्यान्न्यायाच्च धर्माधर्माद्यनुपपतेः।। १६।।** श्रुति प्रमाण से और न्याय से घटित या युक्तियुक्त न होने से धर्म और अधर्म ब्रह्मज्ञानी के लिए नहीं है।। १६।। **टीका**- तदुक्तम् **'[2]विवेकी सर्वदा मुक्तः कुर्वतो नास्ति कर्तृता। [3]अलेपवादमाश्रित्य श्रीकृष्णजनकौ यथा।'** इति। विवेकी सदा मुक्त है। कर्म करते हुए उसमें कर्तापन नहीं है। अलेप वाद को आश्रय करके (वे कर्म करते हैं) जैसे श्रीकृष्ण और जनक (में देखा गया है)।। १६।।

१. अनात्मज्ञविषय- अज्ञानी को आश्रित। २. विवेकीत्यादि- जैसे भगवान ने कहा है **'यस्य नाहंकृतो भावः' इत्यादि।** ३. अलेपवादम्- **'नैव किंचित्करोमीति' 'यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते। सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते।' गी.१३. ३२।** इन प्रमाणों से दृढ़ प्रत्यय (ज्ञान) अलेपवाद है।

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्। तमक्रतुः पश्यति वीतशोको [1]धातुप्रसादान्महिमान-मात्मनः।। २०।।

आत्मा अणोः अणीयान् महतः महीयान्– आत्मा सूक्ष्म से सूक्ष्म है और महान् से भी महान् है। **अस्य जन्तोः गुहायां निहितः**– इस जीव के हृदयरूपी गुफा में स्थित है। **धातुप्रसादात् अक्रतुः तं आत्मनः महिमानं पश्यति**– मन आदि करण रूप धातु की प्रसन्नता से (अन्यमत– परमात्मा की कृपा से) निष्काम पुरुष उस आत्मा की महिमा को देखता है अर्थात् अनुभव करता है। **(ततो) वीतशोकः**– उससे शोक रहित हो जाता है।। २०।।

टीका– निष्काम आदि अन्य साधन के विधान के लिए आगे के वाक्य की अवतरणिका लिखते हैं– [२]**कथं पुनरात्मानं जानाती– [३]त्युच्यते– अणोः सूक्ष्मादणीयाञ्श्यामाकादेरणुतरः।** तो फिर कैसे आत्मा को जानता है इस पर कहते हैं–अणु से अर्थात् सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर है। श्यामाक से भी सूक्ष्मतर है। **महतो महत्परिमाणान्महीयान्महत्तरः पृथिव्यादेः।** महान् परिमाण वाले पृथिवी आदि से भी महत्तर है। **टीका**- एक में अणुत्व और महत्व परस्पर विरुद्ध कैसे कहते हो ऐसी आशंका करके कहते हैं कि अणुत्व आदि अध्यास का अधिष्ठान होने से अणुत्वादि व्यवहार होता है, तात्त्विक रूप से नहीं। इसलिए विरोध नहीं है– **अणु महद्वा यदस्ति लोके वस्तु तत्तेनैवाऽऽत्मना [४]नित्येनाऽऽत्मवत्सम्भवति। तदात्मना विनि–र्मुक्तमसत्संपद्यते। तस्मादसावेवाऽऽत्माऽणोरणीयान्महतो महीयान्सर्व–नामरूपवस्तूपाधिकत्वात्।** सूक्ष्म या विशाल जो भी वस्तु संसार में है, वह उस नित्य आत्मा के कारण आत्मा वाला (सत्–अस्तित्व वाला) होता है। वह आत्मा से रहित हो कर असत् हो जाता है। इसलिए यह आत्मा ही अणु से अणीयान् और महान् से महीयान् है। क्योंकि सब नाम–रूप–वस्तु उपाधि वाला है। **स चाऽऽत्माऽस्य जन्तोर्ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तस्य प्राणिजातस्य गुहायां हृदये निहित आत्म–भूतः स्थितः इत्यर्थः।** वह आत्मा इस जन्तु के अर्थात् ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब पर्यन्त समस्त प्राणि समूहों के गुहा अर्थात् हृदय में आत्मा रूप में स्थित है। **तमात्मानं दर्शनश्रवणमननविज्ञानलिङ्गमक्रतुरकामो दृष्टादृष्टबाह्यविषयोपरतबुद्धिरित्यर्थः।** दर्शन, श्रवण, मनन और

विज्ञान के हेतु वाले उस आत्मा को अक्रतु अर्थात् दृष्ट–अदृष्ट बाहर के विषयों से उपरत (निवृत्त या विरक्त) बुद्धि वाला निष्काम पुरुष– **यदा चैवं तदा मनआदीनि करणानि धातवः शरीरस्य धारणात्प्रसीदन्तीत्येषां धातूनां प्रसादात्मनो महिमानं [5]कर्मनिमित्तवृद्धि–क्षयरहितं पश्यत्ययमहमस्मीति साक्षाद्विजानाति।** जब ऐसा है (जब उपरत होता है) शरीर को धारण करने से मन आदि करण धातु है, तब धातुओं की प्रसन्नता से कर्म से होने वाले वृद्धि और क्षय से रहित आत्मा की महिमा को देखता है अर्थात् यह ब्रह्म मैं हूँ, इस प्रकार जानता है। **ततो वीतशोको भवति।। २०।।** उस अनुभव से शोक रहित हो जाता है।। २०।। १. धातुप्रसादात्– **धातुः प्रसादात्** ऐसा अन्य पुस्तकों में मिलता है। इसलिए ईश्वर की कृपा से व्याख्या करनी चाहिए। आगे **यमेवैष वृणुते** इस वाक्य के साथ सामंजस्य के लिए भी ईश्वर की कृपा अर्थ करना ठीक रहेगा। २. कथं– अपने को हन्ता आदि मानना आत्मज्ञान नहीं है तो किस साधन रूप से आत्मज्ञान होता है, यह पूछने का अभिप्राय है। ३. उच्यते– अणुतर आदि से उपलक्षित सब के अधिष्ठान रूप से और अकामत्व आदि साधनों से आत्मज्ञान होता है। यह आशय है। ४. नित्य– परमाणु और आकाश आदि में भासित नित्यत्व भी उस आत्मा के अधीन है इसे मन में रख कर कहते हैं नित्य। **'नित्यो नित्यानां'** यह श्रुति भी है। नित्य के अधीन अनित्यों का आत्मलाभ (स्थिति) है यह भाव है। ५. कर्मनिमित्त– 'एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न वर्धते नो कनीयान्' इस श्रुति का आश्रय ले कर महिमा शब्द की व्याख्या करते हैं।

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः। कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति।। २१।।

आसीनो दूरं व्रजति– बैठे हुए अर्थात् अचल होते हुए भी वह आत्मा दूर चला जाता है। **शयानो याति सर्वतः**– सोता हुआ भी सभी ओर जाता है। **तं मदामदं देवं**– हर्ष और अहर्ष के सहित उस देव को **मदन्यः कः ज्ञातुं अर्हति**– मेरे सिवा और कौन जान सकता है।। २१।।

अन्यथा दुर्विज्ञेयोऽयमात्मा कामिभिः प्राकृतपुरुषैः यस्मात् आसीनोऽवस्थितोऽचल एव सन्दूरं व्रजति शयानो याति सर्वत एवम्–

सावात्मा देवो मदामदः समदोऽमदश्च सहर्षोऽहर्षश्च विरुद्धधर्मवान-तोऽशक्यत्वाज्ज्ञातुं कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति। अन्यथा यह आत्मा कामी साधारण पुरुषों के द्वारा जिसलिए दुर्विज्ञेय है इसलिए बैठे हुए अर्थात् अचल स्थित रहते ही दूर तक चला जाता है। सोते हुए भी चारों ओर जाता है। इस प्रकार मद और अमद वाला अर्थात् हर्ष और अहर्ष सहित विरुद्ध धर्म वाला यह आत्मा देव है, इसलिए जाना नहीं जा सकता। ऐसे मदामद देव को मेरे सिवाय कौन जान सकता है। **अस्मदादेरेव सूक्ष्मबुद्धेः पण्डितस्य कस्यचिद्वि-ज्ञेयोऽयमात्मा** यह आत्मा हमारे जैसे किसी सूक्ष्मबुद्धि पण्डितों के लिए ही जानने योग्य है। **टीका-** विरुद्ध अनेक धर्म वाला होने से यदि आत्मा दुर्विज्ञेय है तो कैसे पंडित के लिए सुज्ञेय हो सकता है, ऐसी आशंका करके कहते हैं-**स्थितिगतिनित्यानित्यादिविरुद्धानेकधर्मोपाधिकत्वा-द्विरुद्धधर्मत्त्वाद्विश्वरूप इव चिन्तामणिवदवभासते।** क्योंकि स्थिति, गति, नित्य, अनित्य आदि विरुद्ध धर्म उपाधि वाला होने के कारण विरुद्ध धर्म वाला होने से चिन्तामणि के समान अनेक रूप में भासित होता है। **टीका-** अनेक उपाधियों के सांनिध्य से जैसे मणि अनेक रूप में भासित होता है किन्तु स्वरूप से वह नाना रूप वाला नहीं होता है, अथवा चिन्ता मणि में जो जो चिन्तन किया जाता है, उस उस चिन्तित उपाधि वाला होकर वह वैसे भासता है किन्तु स्वरूप से नहीं वैसे स्थिति-गति-नित्य-अनित्य आदि परस्पर अनेक विरुद्ध धर्म है जिन उपाधियों का उन उपाधि के कारण आत्मा भी विरुद्ध धर्म वाला भासित होता है इस प्रकार इस वाक्य की योजना करनी चाहिए। इस प्रकार (यथोक्त विचार से) उस को (पंडित को) सुविज्ञेय होता है। उपाधि के साथ देखने वाले के लिए तो दुर्विज्ञेय ही है यह अर्थ है। **अतो दुर्विज्ञेयत्वं दर्शयति कस्तं मदन्यो ज्ञातुमर्हति।** इसीलिए मुझ से भिन्न और कौन जान सकता है के द्वारा आत्मा का दुर्विज्ञेयत्व दिखाते हैं। **टीका-** स्वरूप से विरुद्ध धर्म वाला होना नहीं है, इसी बात को श्रुति की योजना द्वारा दिखाते हैं- **करणानामुपशमः शयनं करणजनितस्यैकदेशविज्ञानस्योपशमः शयानस्य भवति। यदा चैवं केवलसामान्यविज्ञानत्वात्सर्वतो यातीव यदा विशेषविज्ञानस्थः स्वेन**

रूपेण स्थित इव सन्मनआदिगतिषु तदुपाधिकत्वाद्दूरं व्रजतीव स चेहैव वर्तते।। २१।। इन्द्रिय मन आदि करणों का उपशम (शान्त होना) शयन कहते हैं। सोते हुए का करणों से होने वाला ज्ञान के एकदेश का उपशम होता है। जब ऐसी अवस्था होती है केवल सामान्य विज्ञान होने से वह चारों ओर जाता हुआ भासता है। और जब विशेषविज्ञान में स्थित होता है तब अपने स्वरूप से स्थित होता हुआ सा मन आदि उपाधि वाला होने से मन आदि के गति में जाता हुआ सा जाता हुआ से वह जान पड़ता है किन्तु वास्तव मे यहीं ही रहता है।। २१।। **टीका–** एकदेशविज्ञानस्य अर्थात् मैं मनुष्य हूँ नील रंग को देखता हूँ, इत्यादि परिच्छिन्न विज्ञान का।। २१।।

अशरीरँ्शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्। महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति।। २२।।

शरीरेषु अशरीरं– शरीरों में उस शरीर रहित, **अनवस्थेषु अवस्थितं**– अनित्यों में नित्य, **महान्तं विभुं आत्मानं** – महान् व्यापक आत्मा को **मत्वा**– जान कर, **धीरः न शोचति**– बुद्धिमान् शोक नहीं करता है।। २२।।

अशरीरं स्वेन रूपेणाऽऽकाशकल्प आत्मा तमशरीरं शरीरेषु देवपितृमनुष्यादिशरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितिरहितेष्वनित्येष्ववस्थितं नित्यम–विकृतमित्येतत्। आत्मा अपने स्वरूप से आकाश के समान शरीर रहित है, उस शरीर रहित आत्मा को देवता, पितर, मनुष्य आदि शरीरों में; अनवस्थेषु अर्थात् स्थिति रहितों में अर्थात् अनित्यों में अवस्थित अर्थात् नित्य अर्थात् अविकृत; **महान्तं महत्त्वस्याऽऽपेक्षि–कत्वशंकायामाह विभुं व्यापिनमात्मानम्।** महान्, महानता की आपे–क्षिकता की शंका होने पर श्रुति कहती है, विभु अर्थात् व्यापक आत्मा को; [१]**आत्मग्रहणं स्वतोऽनन्यत्वप्रदर्शनार्थम्।** आत्मा शब्द का ग्रहण अपने से अभिन्नत्व प्रदर्शन के लिए है। [२]**आत्मशब्दः प्रत्यगा–त्मविषय एव** [३]**मुख्यस्**[४]**तमीदृशमात्मानं मत्त्वाऽयमहमिति धीरो धीमान्न**

शोचति। न ह्येवंविधस्याऽऽत्मविदः शोकोपपत्तिः।। २२।। आत्मा शब्द अन्तरात्मा विषय में ही मुख्य है। ऐसे आत्मा को 'यह मैं हूँ' इस प्रकार जान कर धीर अर्थात् बुद्धिमान् शोक नहीं करता है। क्योंकि इस प्रकार आत्मज्ञानी के लिए शोक संभव नहीं है।। २२।। १. आत्मग्रहणं– व्यापक ईश्वर आत्मा को आत्मा रूप से जानकर। इस प्रकार अपने से ईश्वर का अभेद प्रदर्शन के लिए आत्मा शब्द का ग्रहण हुआ है। २. आत्मशब्द– आत्मा शब्द जीव और ईश्वर में साधारण होने से तो फिर अभेद प्रदर्शन कैसे इस पर कहते हैं आत्मशब्द प्रत्यगात्मा में मुख्य है। ३. मुख्य– लोक में और शास्त्र में आत्मा शब्द प्रत्यगात्मा में रूढ़ है। ४. तमीदृशम्– अशरीर आदि विशेषण वाला उस ईश्वर को जान कर अर्थात् जो अशरीर आदि लक्षण ईश्वर है वह मेरी आत्मा ही है, इस प्रकार अपरोक्ष करके।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम्।। २३।।

यद्यपि दुर्विज्ञेयोऽयमात्मा तथाऽप्युपायेन सुविज्ञेय एवेत्याह– अयं आत्मा प्रवचनेन न लभ्यः–यद्यपि यह आत्मा दुर्विज्ञेय है तथापि उपायों के द्वारा सुविज्ञेय ही है इसे कहते हैं– यह आत्मा प्रवचन के द्वारा अर्थात् अनेक वेद (ज्ञान) के स्वीकार से (इकट्ठा करने से) प्राप्त नहीं होता है। अथवा वेद अध्ययन से यह प्राप्त नहीं होता है। **मेधया न (लभ्यः)**– अपनी बुद्धि से भी यह प्राप्त नहीं होती। **बहुना श्रुतेन न (लभ्यः)**– केवल अनेक बार श्रवण करने पर भी यह प्राप्त नहीं होता है। **एषः यं एव वृणृते तेन लभ्यः**– यह साधक जिस अपनी आत्मा की प्रार्थना करता है उस साधक द्वारा वह आत्मा प्राप्त होता है। (अथवा यह ईश्वर जिसका वरण करता है उस से यह आत्मा प्राप्त होता है।) **तस्य एष आत्मा स्वां तनूं विवृणुते**– उस साधक के लिए यह आत्मा आपना स्वरूप को खोल देता है।। २३।।

नायमात्मा प्रवचनेनानेकवेदस्वीकरणणेन लभ्यो ज्ञेयो नापि मेधया ग्रन्थार्थधारणशक्त्या। न बहुना श्रुतेन केवलेन। यह आत्मा

प्रवचनों के द्वारा अर्थात् अनेक वेद अध्ययन के द्वारा प्राप्त अर्थात् जानने योग्य नहीं है। मेधा से अर्थात् ग्रन्थ के अर्थ को समझने की शक्ति से भी नहीं। अनेक ग्रन्थों के केवल श्रवण से भी नहीं है। टीका- आत्मा के प्रतिपादक उपनिषत् विचार से भिन्न शास्त्र श्रवण से जानने योग्य नहीं है। उपनिषदों के विचार में भी आचार्य के उपदेश के बिना, केवल अपनी प्रतिभा से नहीं। **केन तर्हि लभ्य इत्युच्यते।** फिर किस उपाय से प्राप्त होता है? टीका- परमेश्वर और आचार्य के अनुग्रह (कृपा) से यह प्राप्त होता है, इसे कहते हैं- **यमेव स्वात्मानमेष साधको वृणुते प्रार्थयते तेनैवाऽऽत्मना वरित्रा स्वयमात्मा लभ्यो ज्ञायते इत्येतत्।** टीका- श्रवण मनन आदि से अपने आत्मा को साधक वरण करता है अर्थात् संभजन करता है अर्थात् श्रवण के समय भी 'मैं वही हूँ' इस प्रकार अभेद से अनुसंधान करता है। लक्षणा से परमात्मा के अनुग्रह से ही अभेद से अनुसंधान करने वाले वरण करनेवाले से अनुसंधान के अनुसार परमात्मा आत्मा रूप से प्राप्त होता है (ज्ञात होता है)। या विपरीत रीति से शब्दों की योजना करना है। प्रकरण से प्राप्त आत्मा परमात्मा है, वह अन्तर्यामी के रूप में और आचार्य के रूप में स्थित है, वह परमात्मा जिस मुमुक्षु को वरण करता है अर्थात् जिस पर अनुग्रह करता है उस मुमुक्षु को यह आत्मा प्राप्त होता होता है। परमेश्वर से अनुगृहीत उस अभेद से अनुसंधान करने वाले को प्राप्त होता है। **एवं निष्कामस्यऽऽत्मानमेव प्रार्थयत आत्मनैवाऽऽत्मा लभ्य इत्यर्थः।** जिस आत्मा का यह साधक प्रार्थना करता है, उस आत्मा के वरण करनेवाला साधक के द्वारा स्वयं आत्मा जाना जाता है। इस प्रकार आत्मा की प्रार्थना करने वाला निष्काम साधक, आत्मा के द्वारा आत्मा प्राप्त होता है यह अर्थ है। **कथं लभ्यः इत्युच्यते। तस्याऽऽ-त्मकामस्यैव आत्मा विवृणुते प्रकाशयति पारमार्थिकीं तनूं स्वां स्वकीयां स्वयाथात्म्यमित्यर्थः।। २३।।** किस प्रकार वह प्राप्त होता है, इस पर कहते हैं- उस आत्माकाम की आत्मा अपनी पारमार्थिक तनु को अर्थात् अपना याथात्म्य को प्रकाशित कर देती है।। २३।।

नाविरतो दुश्चरितान्नशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वाऽपि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्।। २४।।

दुश्चरितात् अविरतः न- जो दुष्ट आचरणों से हटा नहीं वह उक आत्मा को प्राप्त नहीं कर सकता है, **अशान्तः न-** जो इन्द्रिय लोलुपता से अशान्त है वह नहीं प्राप्त कर सकता है, **असमाहितः न-** जिसका मन समाहित अर्थात् एकाग्र नहीं अर्थात् विक्षिप्त मन वाला, नहीं प्राप्त कर सकता है, **अशान्तमानसः वा न अपि** - तथा समाहित होते हुए भी फल की इच्छा से अशान्त मनवाले को भी नहीं प्राप्त होता है। प्रज्ञानेन एनं आप्नुयात् - जो दुश्चरित से विरत है, शान्त है, समाहित है और शान्त मनवाला है तथा आचार्यवान् है (जिसने आचार्य से श्रवण किया है), वह प्रज्ञान से अर्थात् संस्कृत बुद्धि से उस आत्मा को प्राप्त करता है।। २४।।

किंचान्यत्- **न दुश्चरितात्प्रतिषिद्धाच्छ्रुतिस्मृत्यविहितात्पापकर्म-णोऽविरतोऽनुपरतः।** वह आत्मा उससे नहीं प्राप्त है जो दुश्चरित्र अर्थात् श्रुति और स्मृति से विधान न किये गये पाप कर्मों से जो उपरत नहीं है। **नापीन्द्रियलौल्यादशान्तोऽनुपरतः।** उससे भी नहीं जो इन्द्रिय लोलुपता से अशान्त अर्थात् उपरत नहीं है। **नाप्यसमाहितो-ऽनेकाग्रमना विक्षि- प्तचित्तः।** उससे भी नहीं जो असमाहित अर्थात् जिसका मन एकाग्र नहीं है अर्थात् जिसका चित्त विक्षिप्त है। **समाहितचित्तोऽपि सन्समाधानफलार्थित्वान्नाप्यशान्तमानसो व्यापृत्त-चित्तः।** उससे भी नहीं जो समाहित होते हुए भी समाधान का फल की चाह होने से अशान्त मन वाला है अर्थात् जिसका चित्त काम में लगा हुआ है। **प्रज्ञानेन ब्रह्मविज्ञानेनैनं प्रकृतमात्मानमाप्नुयात्।** किन्तु प्रज्ञान से अर्थात् ब्रह्मज्ञान से इस प्रसंग प्राप्त आत्मा को प्राप्त करता है। **यस्तु दुश्चरिताद्विरत इन्द्रियलौल्याच्च समाहितचितः समाधानफलादप्युपशान्तमानसश्चाऽऽचार्यवान्प्रज्ञानेन यथोक्तमात्मानं प्राप्नोतीत्यर्थः।। २४।।** जो दुश्चरित्र से तथा इन्द्रिय लोलुपता से उपरत है, समाहित मन वाला है, समाधन के फल से भी उपशान्त मन वाला है, वह आचार्यवाला प्रज्ञान के द्वारा कहे गये आत्मा को

प्राप्त करता है। यह अर्थ है।। २४।। टीका- दुश्चरित शारीरिक पाप है।। २४।।

यस्य ब्रह्म च क्षत्त्रं च उभे भवत ओदनः।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः।। २५।।

इति काठकोपनिषदि प्रथमाध्याये द्वितीया वल्ली समाप्ता।। २।।

यस्य- जिस आत्मा का, **उभे ब्रह्म च क्षत्त्रं च ओदनः भवतः**- दोनों ब्राह्मण और क्षत्रिय भात अर्थात् भोजन हैं**, यस्य मृत्युः उपसेचनं (भवति)**- मौत जिसकी उपसेचन अर्थात् सब्जी या चटनी स्थानीय है, **यत्र सः**- जिस अपनी महिमा में वह आत्मा है, **इत्था कः वेद**- इस प्रकार कौन (उसे) जान सकता है।। २५।।

यस्त्वनेवंभूतो- जो इस प्रकार नहीं है (इसका संबन्ध आगे वाक्य से है) **यस्याऽऽत्मनो ब्रह्म च क्षत्त्रं च ब्रह्मक्षत्त्रे सर्वधर्मविधारके अपि सर्वप्राणभूते उभे ओदनोऽशनं भवतः स्याताम्।** जिस आत्मा का, समस्त धर्म को धारण करने वाले भी सब प्राण रूप दोनों ब्राह्मण और क्षत्रिय ओदन अर्थात् भोजन है। **सर्वहरोऽपि मृत्युर्य-स्योपसेचनमिवौदनस्याशनत्वेऽप्यपर्याप्तस्तं प्राकृतबुद्धिर्यथोक्तसाधन-रहितः सन्क इत्था इत्थमेवं यथोक्तसाधनवानिवेत्यर्थः। वेद विजानाति यत्र स आत्मेति।। २५।।**

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमदाचर्य-श्रीशंकरभगवतः कृतौ काठकोपनिषद्भाष्ये प्रथमाध्याये द्वितीयवल्लीभाष्यं समाप्तम्।। २।।

सब को हरने वाला मृत्यु, जिसका सब्जी आदि उपसेचन जैसा है अर्थात् खाने में भात जैसे भी पर्याप्त नहीं है, उस आत्मा को जो अनेवंभूत अर्थात् कहे गये साधनों से रहित है प्राकृत बुद्धि वाला मनुष्य होता हुआ कौन जान सकता है। इस प्रकार अर्थात् कहे गये साधन वाला ही जिस महिमा में वह आत्मा है उसे जानता है।। २५।। टीका- जो अनेवंभूत अर्थात् दुश्चरित्र से विरत नहीं है वह कैसे जान सकता है, इस प्रकार आगे के भाष्य से इसका संबन्ध है। भोजन में भी

अपर्याप्त अर्थात् भात होने में भी समर्थ नहीं सब्जी स्थानीय है। यत्र स आत्मा अर्थात् जिस अपनी महिमा में वह संसार के संहार कर्ता रहता है वैसा उस को कौन जानता है, यह संबन्ध है। २५।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यानन्द-
ज्ञानविरचिते काठकोपनिषद्भाष्यव्याख्याने द्वितीया वल्ली समाप्ता।। २।।

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे (र्ध्ये)। छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पंचाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः।। १।।

लोके- इस शरीर में, **परमे परार्धे गुहां प्रविष्टौ-** देह आश्रित आकाश स्थान से उत्कृष्ट, ब्रह्म के अर्ध स्थान में, बुद्धि रूप गुहा में प्रवेश किये हुए, **सुकृतस्य ऋतं पिवन्तौ**- स्वयं किये हुए कर्मफल को भोगते हैं। एक जीव भोगता है दूसरा ईश्वर नहीं किन्तु भोक्ता के साथ सम्बन्ध होने से दोनों भोगते हैं ऐसा कहा गया है। **ब्रह्मविदः ये च त्रिणाचिकेता छायातपौ (इति) वदन्ति**- ब्रह्मज्ञानी और नाचिकेत अग्नि के तीन बार चयन करनेवाले इन दोनों को छाया और प्रकाश के समान परमस्पर विरुद्ध स्वभाव वाला कहते हैं।

ऋतं पिबन्तावित्यस्या वल्ल्याः [1]सम्बन्धः। ऋतं पिबन्तौ इस मंत्र से आरंभ तृतीय वल्ली का पूर्व ग्रन्थ के साथ सम्बन्ध कहते हैं। **विद्याविद्ये नानाविरुद्धफले इत्यु[2]पन्यस्ते, न तु सफले ते यथाव-न्निर्णीते। तन्निर्णयार्था रथरूपककल्पना, तथा च प्रतिपत्तिसौकर्यम्।** विद्या और अविद्या परस्पर विरुद्ध फल वाले हैं यह कहा गया, किन्तु फल सहित वे यथार्थ रूप से निर्णय नहीं किये गये है। उनसे निर्णय के लिए और समझने में सरलता के लिए रथ रूपक की की कल्पना की गयी है। **टीका-** रथरूपककल्पना अर्थात् प्रसिद्ध रथ के सदृश कल्पना। **एवं च [3]प्राप्तृप्राप्यगन्तृगन्तव्यविवेकार्थं द्वावात्मानावुपन्यस्येते-** इस प्रकार प्रापक और प्राप्य गन्ता और गन्तव्य के विवेक के

लिए दो आत्मा (जीव और ईश्वर) का उपन्यास करते हैं। **ऋतं सत्यमव- श्यंभावित्वात्कर्मफलं पिबन्तौ। एकस्तत्र कर्मफलं पिबति भुङ्क्ते नेतरस्तथाऽपि पातृसंबन्धात्पिबन्तावित्युच्यते छत्रिन्यायेन।** ऋत अर्थात् सत्य, अवश्य होने वाला कर्मफल को दोनों भोगते हैं। एक (जीव) तो कर्मफल को भोगता है, दूसरा (साक्षी, ईश्वर) नहीं भोगता है। फिर भी भोगने वाले के संबन्ध के कारण दोनों भोगते हैं यह छत्रि न्याय से कहा जाता है। (जैसे कुछ लोग जा रहे हैं। उनमें से एक के पास छाता है। उसके संबन्ध से कहा जाता है छाते वाले जाते हैं।) **टीका-** ऋत के पान करनेवाला जीव तो एक चेतन सिद्ध है। दूसरे का अन्वेषण करने पर लोक में संख्या के श्रवण से प्रथम प्रतीति दर्शन से चेतन होने से, समान चेतन स्वभाव परमात्मा ही दूसरा समझा जाता है। उसका ऋतपान औपचारिक है यह अर्थ है। टीपण्णी- १. संबन्धः- पूर्वका उत्तर उत्थापक होने से, उत्थाप्य उत्थापक भाव संबन्ध है। २. उपन्यस्ते- 'दूरमेते विपरीते विषूची' इत्यादि मंत्रों में उपन्यास किया गया है। ३. प्राप्ति अर्थात् उस रूप से अवस्थिति, गति अर्थात् उसका साक्षात्कार। **सुकृतस्य स्वयंकृतस्य कर्मण ऋतमिति पूर्वेण संम्बन्धः।** सुकृत का अर्थात् स्वयं किये गये कर्मों का। इसका पूर्व पद ऋत (फल) के साथ संबन्ध है अर्थात् स्वयं किये गये कर्मों का फल। **लोकेऽस्मिन्शरीरे।** लोक में अर्थात् इस शरीर में। **गुहां गुहायां बुद्धौ प्रविष्टौ।** गुहा अर्थात् बुद्धि रूप गुहा में दोनों प्रविष्ट है। **परमे बाह्यपुरुषाकाशसंस्थानापेक्षया परमम्। परस्य ब्रह्मणोऽर्धं स्थानं परार्धम्। तस्मिन्हि परं ब्रह्मोपलभ्यते। अतस्तस्मिन्परमे परार्धे हार्दाकाशे प्रविष्टावित्यर्थः।** वह बुद्धि रूप गुहा, बाहर पुरुष आकार शरीर से घिरा हुआ आकाश से परम अर्थात् उत्कृष्ट है। परंब्रह्म का अर्ध अर्थात् स्थान को परार्ध कहते हैं। उस बुद्धि रूप गुहा में ब्रह्म उपलब्ध होता है। इसलिए उस परम परार्ध हृदय-आकाश में दोनों प्रविष्ट हैं। **टीका-** बाह्यपुरुषाकाशसंस्थानं अर्थात् देह को आश्रय करने वाला आकाश प्रदेश। **तौ च च्छायातपाविव विलक्षणौ संसारित्वासंसात्विेन ब्रह्मविदो वदन्ति कथयन्ति।** वे दोनों च्छाया और धूप के समान, संसारी और असंसारी होने से परस्पर विलक्षण स्वभाव के हैं, ऐसा

ब्रह्मज्ञानी कहते हैं। **न केवलमकर्मिण एव वदन्ति। पंचाग्नयो गृहस्थाः ये च त्रिणाचिकेताः, त्रिःकृत्वोनाचिकेतोऽग्निश्चितो यैस्ते त्रिणाचि-केताः।। १।।** न केवल अकर्मी अर्थात् ज्ञानी कहते है अपितु जो पंचाग्नि अनुष्ठान करने वाले गृहस्थी और जो तीन बार नाचिकेत अग्नि का चयन किये हैं, वे भी कहते हैं।। १।। **टीका**- पंचाग्नयः अर्थात् गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि(अन्वाहार्यपचन), आहवनीय, सभ्य, आवसथ्य ये पांच अग्नि है। अथवा द्युलोक, पर्जन्य, पृथीवि, पुरुष और स्त्री में जो अग्निदृष्टि से उपासना करते हैं वे अग्निहोत्र करने वाले पंचाग्नी हैं।। १।।

यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम्। अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेत्ँ शकेमहि।। २।।

यः ईजानानां सेतुः (तं) नाचिकेतं शकेमहि- जो कर्मी यजमानों का सेतु है उस नाचिकेत अग्नि का अनुष्ठान में हम सक्षम हैं। **यत् अभयं तितीर्षतां पारं, परं ब्रह्म (तं शकेमहि)**- और जो अभय, संसार सागर को तरने की इच्छावालों के लिए परम आश्रय परंब्रह्म है उसे जानने के लिए हम सक्षम है।। २।।

टीका- शंका- ब्रह्मज्ञानी और पंचाग्नि को जानने वाले अब देखने को नहीं मिलते हैं, ऐसी आशंका करके पहले विद्वानों के अनुभव के विरोध को कहते हैं- **यः सेतुरिव सेतुरीजानानां यजमानानां कर्मिणां दुःखसंतरणा-र्थत्वान्नाचिकेतोऽग्निस्तं वयं ज्ञातुं चेतुं च शकेमहि शक्नुवन्तः।** जो नाचिकेत अग्नि, यजमान कर्मियों के दुःखों के सन्तरण के उपाय होने से सेतु जैसा सेतु है, उसे हम जानने और चयन करने में सक्षम हैं। **किंच यच्चाभयं भयशून्यं संसारस्य पारं तितीर्षतां तर्तु-मिच्छतां ब्रह्मविदां यत्परमाश्रयमक्षरमात्माख्यं ब्रह्म तच्च ज्ञातुं शकेमहि शक्नुवन्तः।** और भी जो भय रहित संसार के पार तरने वाले ब्रह्मज्ञानियों के लिए परम आश्रय अक्षर आत्मा नाम वाला ब्रह्म है, उसे हम जानने में सक्षम हैं। टीका- अधिक प्रभाव के कारण पूर्व के साधकों का ब्रह्मज्ञानी आदि होना संभव है, फिर भी आधुनिक अल्प बुद्धि वालों का यह संभव नहीं है, ऐसी आशंका करके चेतन होने से स्वाभाविकी

ज्ञातृता में योग्यता है इस अभिप्राय से तात्पर्य का कथन करते हैं- **परापरे ब्रह्मणी कर्मब्रह्मविदाश्रये वेदितव्ये इति वाक्यार्थः। एतयोरेव ह्युपन्यासः कृत ऋतं पिबन्ताविति।। २।।** कर्मज्ञ और ब्रह्मज्ञ को आश्रित अपर और पर ब्रह्म, जानने योग्य है, यह वाक्य का अर्थ है। 'ऋतं पिबन्तौ' यहाँ इन दोनों का उल्लेख किया गया है।। २।।

आत्मान्ँ रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च।। ३।।
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाँस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः।। ४।।

आत्मानं रथिनं विद्धि- संसारी जीवात्मा को रथ का स्वामी जानो, **शरीरं एव तु रथम्**- इस शरीर को रथ समझो, **बुद्धिं तु सारथिं विद्धि**- बुद्धि को सारथि जानो, **मनः प्रग्रहं एव च**- मन को लगाम समझो, **इन्द्रियाणि हयान् आहुः**- इन्द्रियों को घोडे कहते हैं, **तेषु विषयान् गोचरान्**- उन इन्द्रिय रूप घोड़ों के लिए शब्दादि विषय मार्ग हैं। **मनीषिणः आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्ता इति आहुः**- विवेकी इन्द्रिय और मन से युक्त आत्मा को भोक्ता कहते हैं।। ३, ४।।

तत्र य उपाधिकृतः संसारी विद्याविद्ययोरधिकृतो मोक्षगमनाय संसारगमनाय च, तस्य तदुभयगमने साधनो रथः कल्प्यते। जीवात्मा और परमात्मा उनमें जो उपाधि वाला संसारी जीव है, जो मोक्ष और संसार प्राप्ति के लिए विद्या और अविद्या के अधिकारी है, उसके उन दोनों मार्ग में जाने के लिए साधन रूप में रथ की कल्पना की जाती है। **टीका**- तत्र अर्थात् पहले ग्रन्थ में कहे गये जीवात्मा और परमात्मा के मध्य। **तत्र तमात्मानमृतपं संसारिणं रथिनं रथस्वामिनं विद्धि जानीहि।** उन दोनों में जो कर्मफल के भोक्ता संसारी जीवात्मा है, उसे रथ के स्वामी जानो। **शरीरं रथमेव तु रथबद्धहयस्थानीयैरिन्द्रियैराकृष्यमाणत्वाच्छरीरस्य।** शरीर रूप रथ में बन्धे घोड़ा स्थानीय

इन्द्रियों से खींचा जाने से, शरीर रथ है। **बुद्धिं तु अध्यवसायलक्षणां सारथिं विद्धि बुद्धिनेतृप्रधानत्वाच्छरीरस्य। सारथिनेतृप्रधान इव रथः।** निश्चय लक्षणवाली बुद्धि को सारथि जानो क्योंकि शरीर, बुद्धि की प्रधानता से चलता है अर्थात् कार्यक्षम होता है। जैसे रथ सारथि के प्रधानता से चलता है। **सर्वं हि देहगतं कार्यं बुद्धिकर्तव्यमेव प्रायेण।** शरीर से होने वाले समस्त कार्य बुद्धि द्वारा प्रायः संपादित होता है। **मनः संकल्पविकल्पादिलक्षणं प्रग्रहं रशनां विद्धि। मनसा हि प्रगृहीतानि श्रोत्रादीनि करणानि प्रवर्तन्ते रशनयेवाश्वाः।। ३।।** संकल्प-विकल्प लक्षण वाला मन को लगाम जानो। क्योंकि मन से ही नियन्त्रित श्रोत्र आदि करण प्रवृत्त होते हैं जैसे लगाम से घोडे नियन्त्रित होते है।। ३।।

इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि हयानाहू रथकल्पनाकुशलाः शरीररथाकर्षणसामान्यात्। शरीर को रथ रूप में कल्पना करने में कुशल लोग चक्षु आदि इन्द्रियों को घोड़ा कहते हैं। क्योंकि घोड़े रथ को खींचते हैं और इन्द्रियाँ शरीर को खींचते है इस समानता से। **तेष्विन्द्रियेषु हयत्वेन परिकल्पितेषु गोचरान्मार्गान्रूपादीन्विषयान्विद्धि।** उन इन्द्रियों को घोड़े रूप में कल्पना करने से रूप आदि विषयों को उनके विचरने के लिए मार्ग समझो। टीका- आत्मा को रथ के स्वामी रूप से कल्पना की गयी है। उस का भोक्तापना स्वाभाविक नहीं है इसे कहते हैं- **आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं शरीरेन्द्रियमनोभिः सहितं संयुक्तमात्मानं भोक्तेति संसारीत्याहुर्मनीषिणो विवेकिनः।** शरीर, इन्द्रिय और मन के सहित और उनसे संयुक्त आत्मा को विवेकी भोक्ता अर्थात् संसारी कहते हैं। टीका- अन्वय व्यतिरेक से औपाधिक आत्मा में भोक्तृत्व है, इसमें शास्त्र प्रमाण है, इसे कहते हैं- **न हि केवलस्याऽऽत्मनो भोक्तृत्वमस्ति बुद्ध्याद्युपाधिकृतमेव तस्य भोक्तृत्वम्।** केवल शुद्ध आत्मा में भोक्ता-पना नहीं है, किन्तु बुद्धि आदि उपाधि को लेकर उसमें भोक्तापना है। **तथा च श्रुत्यन्तरं केवलस्याभोक्तृत्वमेव दर्शयति 'ध्यायतीव लेलायतीव' (बृ.४.३.७) इत्यादि।** ऐसा ही 'ध्यान करता हुआ सा,

चेष्टा करता हुआ सा प्रतीत होता है' यह दूसरी श्रुति केवल आत्मा में अभोक्तापना बतलाती है। टीका- वैष्णव पद की प्राप्ति के श्रवण की अनुपपत्ति से भी आत्मा में स्वाभाविक भोक्तापना नहीं कहना चाहिए, इसे कहते हैं- **एवं च सति वक्ष्यमाणरथकल्पनया वैष्णवस्य पदस्याऽऽत्म-तया प्रतिपत्तिरुपपद्यते नान्यथा स्वभावानतिक्रमात्।** ऐसा होने पर कहे जाने वाले रथ कल्पना के द्वारा वैष्णव पद का आत्मा रूप से ज्ञान संभव होगा अन्यथा नहीं, क्योंकि स्वभाव का अतिक्रमण नहीं होता है।। ४।।

यस्त्वविज्ञानवान्भवत्ययुक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः।। ५।।
यस्तु विज्ञानवान्भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः।। ६।।

यः तु सदा अयुक्तेन मनसा अविज्ञानवान् भवति- जो तो सदा असमाहित मन से अविवेकी होता है, **दुष्टाष्वा सारथेः इव तस्य इन्द्रियाणि अवश्यानि (भवन्ति)**- दुष्ट घोड़ों के समान उस अकुशल निर्बुद्धि सारथि की इन्द्रियाँ वश में नहीं रहते हैं।। ५।।

यः तु सदा युक्तेन मनसा विज्ञानवान् भवति- जो तो सदा समाहित मन से विवेकी होता है, **सदश्वा सारथेः इव तस्य इन्द्रियाणि वश्यानि (भवन्ति)**- अच्छे घोड़े वाले सारथि के समान उसकी इन्द्रियाँ वश में रहती हैं।। ६।।

तत्रैवं सति यस्तु बुद्ध्याख्यः सारथिरविज्ञानवाननिपुणोऽविवेकी प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च भवति यथेतरो रथचर्यायामयुक्तेनाप्रगृहीतेनास-माहितेन मनसा प्रग्रहस्थानीयेन सदा युक्तो भवति तस्याकुशलस्या-बुद्धिसारथेरिन्द्रियाण्यश्वस्थानीयान्यवश्यान्यशक्यान्यनिवारणीयानि दुष्टाश्वा अदान्ताश्वा इवेतरसारथेर्भवन्ति।। ५।। ऐसी स्थिति में रथ के चालन में दूसरे सारथि के समान जो बुद्धि नाम वाला सारथि विज्ञान रहित अर्थात् निपुण नहीं है अर्थात् प्रवृत्ति और निवृत्ति में

विवेक हीन है, लगाम स्थानीय अयुक्त मन से अर्थात् अप्रगृहीत अर्थात् असमाहित मन से सदा युक्त रहता है, उस अकुशल बुद्धि रूप सारथि की अश्व स्थानीय इन्द्रियाँ अवश्य अर्थात् निवारण में समर्थ नहीं होते हैं, जैसे दूसरे सारथि के अशिक्षित घोड़ें वेकाबू हो जाते हैं।। ५।।

यस्तु पुनः पूर्वोक्तविपरीतः सारथिर्भवति विज्ञानवान्निपुणो विवेकवान्युक्तेन मनसा प्रगृहीतमनाः समाहितचित्तः सदा तस्याश्वस्था-नीयानीनिद्रयाणि प्रवर्तयितुं निवर्तयितुं वा शक्यानि वश्यानि दान्ताः सदश्वा इवेतरसारथेः।। ६।। जो तो फिर पहले कहे हुए से विपरीत सर्वदा विज्ञान वाला अर्थात् निपुण अर्थात् विवेक वाला, युक्त मनवाला अर्थात् निगृहीत मनवाला अर्थात् समाहित चितवाला, सारथि होता है, अन्य रथ के अच्छे घोडे वाले सारथि के समान, उसके दान्त (नियन्त्रित) वशीभूत अश्व स्थानीय इन्द्रियाँ (सन्मार्ग में) प्रवृत्ति या (कुमार्ग से) निवृत्ति में सक्षम होते हैं।। ६।।

दोनों मंत्र में टीका नहीं है।। ६,७।।

यस्त्वविज्ञानवान्भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः।
न स तत्पदमाप्नोति सँसारं चाधिगच्छति।। ७।।
यस्तु विज्ञानवान्भवति समनस्कः सदा शुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते।। ८।।

यः तु अविज्ञान्वान् भवति अमनस्कः सदा अशुचिः- जो तो विवेकहीन होता है, जिसका मन निगृहीत नहीं है, जो सदा अपवित्र रहता है, **स तत् पदं न आप्नोति-** वह उस अक्षर पद को प्राप्त नहीं करता है, **संसारं च अधिगच्छति-** वह जन्ममृत्यु रूप संसार को प्राप्त करता है।। ७।।

यः तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः - जो तो विवेकी होता है, निगृहीत मन वाला होता है, और सदा पवित्र रहता है, **स तु तत् पदं आप्नोति यस्मात् भूयः न जायते-** वह तो

उस परम अक्षर पद को प्राप्त करता है, जिस पद की प्राप्ति से वह दूबारा जन्म नहीं लेता है।। ८।।

तत्र पूर्वोक्तस्याविज्ञानवतो बुद्धिसारथेरिदं फलमाह- यस्त्ववि-ज्ञानवान्भवति। अमनस्कोऽप्रगृहीतमनस्कः स तत एवाशुचिः सदैव। न स रथी तत्पूर्वोक्तमक्षरं यत्परं पदमाप्नोति तेन सारथिना। न केवलं कैवल्यं नाऽऽप्नोति संसारं च जन्ममरणलक्षणमधिगच्छति।। ७।। वहाँ पहले कहे गये अविवेकी बुद्धिरूप सारथि वाले रथस्वामी का यह फल श्रुति बतलाती है- जो तो विज्ञानवान् अर्थात् विवेकी होता है। अमनस्क अर्थात् जिसका मन प्रगृहीत (नियन्त्रित) नहीं है, वह उससे सदा अपवित्र रहता है। उस विवेक रहित सारथि के द्वारा वह रथी उस पूर्वोक्त अक्षरं जो परम पद है उसे नहीं प्राप्त करता है। न केवल कैवल्य मोक्ष को प्राप्त नहीं करता है अपितु जन्म-मरण लक्षण वाला संसार को प्राप्त करता है।। ७।।

यस्तु द्वितीयो विज्ञानवान्विज्ञानवत्साथ्युपेतो रथी विद्वान्त्येतत्। युक्तमनाः समनस्कः स तत एव सदा शुचिः स तु तत्पदमाप्नोति। यस्मादाप्तात्पदादप्रच्युतः सन्भूयः पुनर्न जायते संसारे।। ८।। जो तो दूसरा विज्ञानवाला अर्थात् विवेकी सारथि से युक्त विद्वान रथी है। समनस्क अर्थात् संयतचित्त है वह उससे सदा पवित्र रहता है। वह उस पद को प्राप्त करता है। जिस प्राप्त पद से प्रच्युत (गिर कर) वह फिर संसार में जन्म नहीं लेता है।। ८।।

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्।। ९।।

यः तु नरः विज्ञानसारथिः मनःप्रग्रहवान्- जो तो मनुष्य विवेक विज्ञान सारथिवाला तथा संयमित मन लगाम वाला है, **सः अध्वनः पारं विष्णोः तत् परमं पदं आप्नोति-** वह मनुष्य संसार गति के आखीर छोर उस विष्णु के परम पद को प्राप्त करता है।। ९।।

किं तत्पदमित्याह– विज्ञानसारथिर्यस्तु यो विवेकबुद्धिसारथिः पूर्वोक्तो मनः प्रग्रहवान्प्रगृहीतमना समाहितचितः सन्शुचिर्नरो विद्वान्– सोऽध्वनः संसारगतेः पारं परमेवाधिगन्तव्यमित्येतदाप्नोति मुच्यते सर्वसंसारबन्धनैः। वह पद क्या है इस पर श्रुति बतलाती है– जो विद्वान मनुष्य पहले कहे गये विज्ञान सारथिवाला अर्थात् विवेकबुद्धि रूप सारथि वाला है तथा प्रगृहीत मनवाला अर्थात् समाहित चितवाला होता हुआ पवित्र है, वह मार्ग के अर्थात् संसार गति के पार अर्थात् आखीर छोर गन्तव्य स्थान को प्राप्त करता है। अर्थात् समस्त संसार बन्धन से मुक्त हो जाता है। **तद्विष्णोर्व्यापनशीलस्य ब्रह्मणः परमात्मनो वासुदेवाख्यस्य परमं प्रकृष्टं पदं स्थानं सतत्त्व-मित्येतद्यदसावाप्नोति विद्वान्।। ९।।** यह विद्वान उस विष्णु के अर्थात् व्यापक स्वभाव ब्रह्म वासुदेव नामवाला परमात्मा के परम अर्थात् उत्कृष्ट पद अर्थात् नित्य स्थान को प्राप्त करता है।। ९।।

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः।। १०।।
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः।। ११।।

इन्द्रियेभ्यः परा ही अर्थाः– इन्द्रियों से सूक्ष्म अपंचीकृत महाभूत (तन्मात्र) हैं, **अर्थेभ्यः च परं मनः–** उन महाभूतों से सूक्ष्म मन है, **मनसः तु परा बुद्धिः–** मन से सूक्ष्म बुद्धि है, **बुद्धेः परः महान् आत्मा–** बुद्धि से सूक्ष्म महतत्त्व है। **महतः परं अव्यक्तम्–** महतत्त्व से सूक्ष्म अव्यक्त है, **अव्यक्तात् परः पुरुषः–** अव्यक्त से सूक्ष्म पुरुष (परमात्मा) है। **पुरुषात् न परं किंचित् –** पुरुष से परे कुछ भी नहीं है। **सा काष्ठा सा परा गतिः–** क्योंकि वह सब की काष्ठा पर्यवसान है तथा वह परम गति है।। १०,११।।

अधुना यत्पदं गन्तव्यं तस्येन्द्रियाणि स्थूलान्यारभ्य सूक्ष्मतार-तम्यक्रमेण प्रत्यगात्मतयाऽधिगमः कर्तव्य इत्येवमर्थमिदमारभ्यते– अब

जो गन्तव्य (प्राप्तव्य) पद (स्थान) है उसका, स्थूल इन्द्रियों से ले कर सूक्ष्म तारतम्य क्रम से, अन्तरात्मा रूप से ज्ञान कर्तव्य है, इस के लिए आगे के मंत्र आरंभ होते हैं। **स्थूलानि तावदिन्द्रियाणि तानि यैरर्थैरात्मप्रकाशनायाऽऽरब्धानि तेभ्य इन्द्रियेभ्यः स्वकार्येभ्यस्ते परा ह्यर्थाः सूक्ष्मा महान्तश्च प्रत्यगात्मभूताश्च।** जिन शब्दादि विषयों के अपने प्रकाशन के लिए उन अपंचिकृत भूतों से इन्द्रियों की उत्पत्ति हुई है वे इन्द्रियाँ उनकी अपेक्षा स्थूल हैं। अर्थ अर्थात् अपंचिकृत पंच महाभूत अपने कार्य उन इन्द्रियों से पर अर्थात् सूक्ष्म, महान् (व्यापक) और प्रत्यक्-आत्म-रूप है। टीका- प्रत्यगात्मभूत अर्थात् अनपायी (अविनाशी) स्वरूप भूत। (जैसे घड़ा का अविनाशी स्वरूप मिट्टी है)। **तेभ्योऽप्यर्थेभ्यश्च परं सूक्ष्मतरं महत्प्रत्यगात्मभूतं च मनः। मनःशब्द-वाच्यं मनस आरम्भकं भूतसूक्ष्मम्।** उन अर्थों से पर अर्थात् सूक्ष्मतर महान् और प्रत्यक्-आत्म-रूप मन है। मन शब्द से मन का आरंभक सूक्ष्मभूत समझना चाहिए। (मन सूक्ष्म भूतों का कार्य है। वह भूतों से पर नहीं हो सकता। इसलिए मन शब्द से मन के आरंभक सूक्ष्मभूत कहा है।) **संकल्पविकल्पाद्यारम्भकत्वान्मनसोऽपि परा सूक्ष्मतरा महत्तरा प्रत्यगात्मभूता च बुद्धिर्बुद्धिशब्दवाच्यमध्यवसायाद्यारम्भकं भूतसूक्ष्मम्।** संकल्प-विकल्प आदि के आरंभक मन से भी पर अर्थात् सूक्ष्मतर, महत्तर प्रत्यक्-आत्म-रूप बुद्धि है। बुद्धि शब्द से वाच्य अध्यवसाय आदि आरंभक सूक्ष्मभूत है। टीका- शंका- अर्थों से मन के आरंभक सूक्ष्मभूत पर है। उससे बुद्धि के आरंभक सूक्ष्मभूत पर है यह कहना युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि कार्य के अपेक्षा उपचित (एकत्रित) यह उपादान व्यापक और नित्य होता है यह प्रसिद्ध है। जैसे घट के लिए मिट्टी। यहाँ सूक्ष्मभूतों का परस्पर कार्यकारण भाव में कोई प्रमाण नहीं है। उत्तर- आप का प्रश्न सही है। फिर भी विषय और इन्द्रियों का व्यवहार मन के अधीन देखा गया है मन की व्यापकता की कल्पना की जाती है। वह मन पारमार्थिक रूप से आत्म स्वरूप है किसी को भ्रम होता है, उस भ्रम के निराकरण के लिए कहा गया है कि मनशब्द के वाच्य भूतसूक्ष्म इस प्रकार। 'अन्नमयं हि सोम्य मनः' (छा.६.५.४) इत्यादि श्रुति से मन भौतिक है (भूतों

का कार्य है) यह ज्ञान होता है, तथा अन्न के होने से या न होने से मन की वृद्धि और क्षय देखे जाने से मन भौतिक ही है। उस संकल्प आदि लक्षण वाला मन अध्यवसाय से नियमन होने से बुद्धि उससे पर (सूक्ष्म) है। कुछ लोग बुद्धि को ही आत्मा समझते हैं, उसका निराकरण करने के लिए कहते हैं कि बुद्धि शब्दवाच्य बुद्धि के आरंभक सूक्ष्मभूत। करण होने से इन्द्रिय के समान बुद्धि का भी भौतिकत्व सिद्ध है। मैं अपनी बुद्धि द्वारा यह जानता हूँ इस प्रकार बुद्धि में करणत्व अनुभव सिद्ध है। इससे परम पुरुषार्थ को दिखाने की इच्छा से भूतों के अवयव संस्थान अर्थ आदि में उत्तरोत्तर पर-अपर भाव कल्पना योग्य है। अर्थ आदि का परत्व प्रतिपादन करना इष्ट नहीं है, क्योंकि प्रयोजन का अभाव है। और वाक्य-भेद का प्रसंग भी होगा। **बुद्धेरात्मा सर्व-प्राणिबुद्धीनां प्रत्यगात्मभूतत्वादात्मा महान्सर्वमहत्त्वादव्यक्ताद्यत्प्रथमं जातं हैरण्यगर्भं तत्त्वं बोधाबोधात्मकं महानात्मा बुद्धेः पर इत्युच्यते।। १०।।** बुद्धि से पर महान् आत्मा है। समस्त प्राणियों की बुद्धि का अन्तरात्म रूप होने से आत्मा है, सबसे महान् होने से महान्, वह महान् आत्मा अर्थात् अव्यक्त से प्रथम उत्पन्न हिरण्यगर्भ रूप तत्त्व ज्ञान-क्रिया स्वरूप महान् आत्मा बुद्धि से पर (सूक्ष्म) कहा जाता है। टीका- देवता, नर, तिर्यक् आदि बुद्धियों का विधारक होने से तथा सातत्य गमन से (निरन्तर गमन-ज्ञान से) आत्मा कहा जाता है। अर्थात् सूत्र नाम वाला हिरण्यगर्भ तत्त्व। बोधाबोधात्मक अर्थात् ज्ञानक्रिया शक्तिस्वरूप। अथवा अधिकारी पुरुष के अभिप्राय से ज्ञान स्वरूप अव्यक्त का प्रथम परिणाम। उपाधि द्वारा अपंचीकृत-भूत स्वरूप होने से अज्ञान स्वरूप हिरण्यगर्भ। यह अर्थ है।

महतोऽपि परं सूक्ष्मतरं प्रत्यगात्मभूतं सर्वमहत्तरं चाव्यक्तं सर्वस्य जगतो बीजभूतमव्याकृतनामरूपसतत्त्वं सर्वकार्यकारणशक्ति-समाहाररूपमव्याकृताकाशदिनामवाच्यं महान् से पर अर्थात् सूक्ष्मतर प्रत्यक् आत्मरूप सबसे महत्तर अव्यक्त है। वह संसार के बीजरूप, अव्याकृत नाम-रूप सत्तावाला, समस्त कार्य-कारण की शक्ति का समाहार (समष्टि) रूप, टीका- शब्द के साथ अर्थ का संबन्ध को शक्ति कहते हैं। वह नित्य है। उस नित्यता की निर्वाह के लिए प्रलय के समय समस्त कार्य-कारण शक्तिओं का अवस्थान मानना पड़ेगा। उन शक्तियों का

समाहार (समष्टि) मायातत्त्व है क्योंकि ब्रह्म असंग है। इसलिए शक्तियों का समाहार रूप अव्यक्त अर्थ है। 'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीदेतस्मिन्खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च' 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' (श्वे. ४.१०) वह यह जगत् सृष्टि से पूर्व अव्याकृत था (नाम रूप आदि से व्याकृत नहीं था)। इस अक्षर में गार्गी आकाश ओत और प्रोत था।' 'माया को प्रकृति और मायी को महेश्वर जानो' इत्यादि श्रुति में अव्यक्त प्रसिद्ध है। वह सांख्यों के अभिमत प्रधान से विलक्षण है इसे कहते हैं- **परमात्मन्योतप्रोतभावेन समाश्रितं** परमात्मा में ओत-प्रोत भावसे आश्रित अव्याकृत तथा आकाश आदि नाम से कहे जाने वाला है। टीका- अव्यक्त परमात्मा की शक्ति होने से अद्वितीयत्व का विरोध नहीं है, इसे कहते हैं- **वटकणिकाया-मिव वटवृक्षशक्तिः।** वट बीज में वटवृक्ष को उत्पन्न करने की शक्ति के समान है। **टीका-** होनेवाले वटवृक्ष की शक्तिवाला वटबीज अपनी शक्ति द्वारा सद्द्वितीय (जिसका कोई दूसरा है) नहीं कहा जाता। वैसे माया शक्ति के द्वारा ब्रह्म भी सद्द्वितीय नहीं कहा जाता। सत्त्वादि रूप से निरूपण करने पर इसकी व्यक्ति (दृश्यमानता) नहीं है इसलिए अव्यक्त कहा जाता है। इससे अव्यक्त शब्दसे भी अद्वैत से अविरोध समझना चाहिए। समस्त प्रपंच का कारण अव्यक्त है। वह परमात्मा के परतन्त्र होने से परमात्मा में कारणता औपचारिक है, अव्यक्त के समान विकारी हो कर कारणता नहीं है। अव्यक्त अनादि होने से उसमें परतन्त्रता है। उसके पृथक् स्थिति में कोई प्रमाण नहीं है। आत्मसत्ता से वह सत्ता वाला है यह अर्थ है। **तस्मादव्यक्तात्परः सूक्ष्मतरः सर्वकारणत्वात्प्रत्यगात्मत्वाच्च महांश्च, अत एव पुरुषः सर्वपूरणात्।** उस अव्यक्त से पर अर्थात् सूक्ष्मतर पुरुष है। क्योंकि वह सब का कारण होने से और प्रत्यक् आत्मा होने से महान् भी है। इसलिए सब को पूरण करने से (सर्वव्यापक होने से) पुरुष है। **ततोऽन्यस्य परस्य प्रसंगं निवारयन्नाहपुरुषान्न परं किंचिदिति।** उस पुरुष से कोई अन्य पर(सूक्ष्म) के प्रसंग का निवारण करते हुए श्रुति ने कहा कि पुरुष से पर कुछ भी नहीं है। **यस्मान्नास्ति पुरुषाच्चिन्मात्रघनात्परं किंचिदपि वस्त्वन्तरं तस्मात्सूक्ष्मत्वमहत्त्वप्रत्य-गात्मत्वानां सा काष्ठा निष्ठा पर्यवसानम्।** जिसलिए चिन्मात्रघन पुरुष

से पर कोई दुसरा वस्तु नहीं है इस इसलिए सूक्ष्मत्व, महत्त्व, प्रत्यगात्मत्वों का वह काष्ठा अर्थात् निष्ठा अर्थात् पर्यवसान (अवधि,सीमा) है। **अत्र हि इन्द्रियेभ्य आरभ्य सूक्ष्मत्वादिपरिसमाप्तिः।** इन्द्रियों से ले कर सूक्ष्मत्व आदि की परिसमाप्ति इस पुरुष में है। **अत एव च गन्तॄणां सर्वगतिमतां संसारिणां सा परा प्रकृष्टा गतिः।** इसलिए पुरुष (परमात्मा) गमन करने वाले समस्त गतिवाले संसारियों की सर्वोत्कृष्ट गति है। **'यद्गत्वा न निवर्तन्ते' (गी.१५.६) इति स्मृतेः।** इस में 'जहाँ जा कर कोई लौटता नहीं' गीता वाक्य प्रमाण है।। ११।।

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोऽऽत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।। १२।।

सर्वेषु भूतेषु- सब प्राणियों में **एषः आत्मा-** यह आत्मा **गूढः-** छिपा हुआ है। **न प्रकाशते-** इसलिए प्रकाशित नहीं होता है। **तु सूक्ष्मदर्शिभिः-** किन्तु सूक्ष्मदर्शी व्यक्ति के द्वारा **सूक्ष्मया अग्र्यया बुद्ध्या-** सूक्ष्म एकाग्र बुद्धि से **दृश्यते-** यह आत्मा दीखता है अर्थात् अनुभव में आता है।

ननु गतिश्चेदागत्याऽपि भवितव्यं कथं 'यस्माद्भूयो न जायत' इति। शंका- गति है तो आगति भी होना चाहिए तो फिर (८वें मंत्र में) कैसे कहा कि 'जहाँ से दूबारा जन्म नहीं लेता'? इस प्रकार। **नैष दोषः। सर्वस्य प्रत्यगात्मत्वादवगतिरेव गतिरित्युपचर्यते।** समाधान- यह कोई दोष नहीं है। परमात्मा सब का अन्तरात्मा होने से उसके अवगति (ज्ञान) को ही गति रूप में औपचारिक दृष्टि से कहा है। **प्रत्यगात्मत्वं च दर्शितमिन्द्रियमनोबुद्धिपरत्वेन।** परमात्मा अन्तरात्मा है, इस बात को इन्द्रिय-मन-बुद्धि से पर कह कर दिखाया गया है। **यो हि गन्ता सोऽगतमप्रत्यग्रूपं गच्छत्यनात्मभूतं न विपर्ययेण।** जो जानेवाला है वह अन्तरात्मा से भिन्न अनात्म रूप अगत(नहीं जाया गया) अप्राप्त स्थान को जाता है। उससे विपरीत अपने स्वरूप में

कोई नहीं जाता है। **तथा च श्रुतिः 'अनध्वगा अध्वसु पारयिष्णवः' इत्याद्या। तथा च दर्शयति प्रत्यगात्मत्वं सर्वस्य।** इसे दुसरी श्रुति प्रमाण है 'संसार के पार को जानेवाले मार्ग रहित होते हैं' इत्यादि। टीका- पारयिष्णव अर्थात् संसार के पार को जानेवाले। इस प्रकार आगे की श्रुति बतलाती है कि वह परमात्मा सबके अन्तरात्मा है। **एष पुरुषः सर्वेषु ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तेषु भूतेषु गूढः संवृतो दर्शनश्रवणादिकर्मा** यह पुरुष (परमात्मा) ब्रह्मा से ले कर स्तम्ब पर्यन्त समस्त प्राणियों में गूढ़ है अर्थात् छिपा है। दर्शन, श्रवण आदि कर्मवाला जीव, टीका- प्रकाशित नहीं होता है तो नहीं है ऐसा नहीं कहना चाहिए। क्योंकि लिंग(चिन्ह) दीखता है। दर्शनश्रवणादिकर्मा अर्थात् दर्शन श्रवण आदि कर्म करनेवाला। जीव प्रकाश स्वरूप और ब्रह्म आत्मा होते हुए भी जो यह ब्रह्मस्वरूप का ज्ञान नहीं होता है, वह किसी प्रतिबन्ध के कारण हुआ है इस प्रकार कल्पना की जाती है। वह प्रतिबन्धक कोई वस्तु नहीं है क्योंकि ज्ञान से मुक्ति श्रुति से उसके बाध की प्रसक्ति है। इससे अविद्या ही प्रतिबन्धक है, इस पर कहते हैं-
ऽविद्यामायाच्छन्नोऽत एवाऽऽत्मा न प्रकाशत आत्मत्वेन कस्यचित्। अविद्या रूप माया से आच्छन्न है, इससे ही आत्मा (परमात्मा) आत्मा रूप से किसी को प्रकाशित नहीं होता है। **अहो! अतिगम्भीरा दुरवगाह्या विचित्रा माया चेयं यदयं सर्वो जन्तुः परमार्थतः परमार्थस-तत्त्वोऽप्येवं बोध्यमानोऽहं परमात्मेति न गृह्णात्यनात्मानं देहेन्द्रियादि-संघातमात्मनो दृश्यमानमपि घटादिवदात्मत्वेनाहममुष्य पुत्र इत्यनुच्यमा-नोऽपि गृह्णाति।** आश्चर्य की बात है कि यह माया अत्यन्त गहरा, कष्ट से जानने योग्य और विचित्र है; जो ये सारे प्राणि वास्तविक रूप से परमात्मा होते हुए भी और इस प्रकार (आचार्य के द्वारा) समझाये जाने पर भी 'मैं परमात्मा हूँ' इसे ग्रहण नहीं करता है। उलटा अनात्मा देह-इन्द्रिय आदि संघात को जो घट आदि के समान अपने को (भिन्न) दीखते हुए भी उन्हे आत्मा रूप से 'मैं इसका पुत्र हूँ' इस प्रकार (आचार्य के द्वारा) न कहे जाने पर भी ग्रहण करता है। **नूनं परस्यैव मायया मोमुह्यमानः सर्वो लोको**

बंभ्रमीति। निःसन्देह परमात्मा की माया से मोहित हो कर समस्त लोक बार बार संसार चक्र में भ्रमण करते हैं। **तथा च स्मरणं 'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः' (गी.७.२५) इत्यादि।** वैसे ही गीता में कहा है 'योगमाया से आवृत होने से सभी के लिए मैं प्रकाशित नहीं होता हूँ। **ननु विरुद्धमिदमुच्यते 'मत्वा धीरो न शोचति' 'न प्रकाशत' इति च।** शंका- यह परस्पर विरुद्ध कहा जाता है कि 'जान कर बुद्धिमान् शोक नहीं करता है' और 'प्रकाशित नहीं होता है'। **नैतदेवम् असंस्कृतबुद्धेरविज्ञेयत्वान्न प्रकाशते इत्युक्तम्। दृश्यते तु संस्कृतयाऽग्रयाऽग्रमिवाग्र्या तयैकाग्र-तयोपेतयेत्येतत्सूक्ष्मया सूक्ष्मवस्तुनिरूपणपरया।** ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि असंस्कृत (अमार्जित, मलीन) बुद्धि से अविज्ञेय होने से प्रकाशित नहीं होता है, यह कहा गया है। संस्कृत अर्थात् शुद्ध, अग्र के समान अग्र्य, उस एकाग्र रूप से लगी हुई सूक्ष्मवस्तु के निरूपण परक सूक्ष्म बुद्धि से तो देखा जाता है। टीका- निदिध्यासन के प्रचुरता से एकाग्र प्राप्त अन्तःकरण जब सहकारी बन जाता है, तब उस के साथ महावाक्य से 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार की बुद्धिवृत्ति उत्पन्न होती है। उस बुद्धिवृत्ति में अभिव्यक्त ब्रह्मभाव, स्वतः अपरोक्ष रूप से व्यवहार किया जाता है, इससे दृश्यता का औपचारिक प्रयोग होता है। जो व्यवहार जिससे प्रयुक्त होता है वह उससे दृश्य है, इस प्रकार प्रसिद्ध है। **कैः ? सूक्ष्मदर्शिभिरि-न्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था इत्यादिप्रकारेण सूक्ष्मतापाम्पर्यदर्शनेन परं सूक्ष्मं द्रष्टुं शीलं येषां ते सूक्ष्मदर्शिनस्तैः सूक्ष्मदर्शिभिः पण्डितैरित्येतत्।। १२।।** किनसे देखा जाता है ? सूक्ष्मदर्शियों से, इन्द्रियों से पर अर्थ इत्यादि प्रकार से सूक्ष्मता की परंपरा देखे जाने से पर अर्थात् सूक्ष्म वस्तु के दर्शन में जो समर्थ है वे सूक्ष्मदर्शी हैं उन सूक्ष्मदर्शी विद्वानों से वह आत्मा देखा जाता है अर्थात् अनुभव किया जाता है।। १२।।

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि।। १३।।

प्राज्ञः वाक् मनसी यच्छेत्– विवेकी पुरुष वाणी आदि इन्द्रियों को मन में विलय करे। **तत् ज्ञान आत्मनि यच्छेत्–** उस मन को ज्ञान आत्मा अर्थात् बुद्धि में विलय करे। **ज्ञानं महति आत्मनि नियच्छेत्–** बुद्धि को महत्तत्त्व में विलय करे। **तत् शान्त आत्मनि यच्छेत्–** उस महत्तत्त्व को शान्त आत्मा अर्थात् साक्षी स्वरूप आत्मा में विलय करें।। १३।।

तत्प्रतिपत्त्युपायमाह– यच्छेन्नियच्छेदुपसंहरेत्प्राज्ञो विवेकी। किम्? वाग्वाचं वागत्रोउलक्षणार्था सर्वेषामिन्द्रियाणाम्। क्व? मनसी मनसीति च्छान्दसं दैर्घ्यम्। उस आत्मा के ज्ञान का उपाय कहते हैं– प्राज्ञ अर्थात् विवेकी यच्छेत् अर्थात् उपसंहार करे। किसका उपसंहार करे? वाणी का। वाणी यहाँ समस्त इन्द्रियों का उपलक्षण के लिए है। कहाँ उपसंहार करें? मन में। मनसी में दीर्घ ईकार च्छादस है। **तच्च मनो यच्छेज्ज्ञाने प्रकाशस्वरूपे बुद्धावात्मनि। बुद्धिर्हि मनआदि–करणान्याप्नोतीत्यात्मा प्रत्यक्तेषाम्।** उस मन को प्रकाश स्वरूप ज्ञान–आत्मा अर्थात् बुद्धि आत्मामें विलय करे। बुद्धि मन आदि करणों को व्याप्त करता है और उन से आन्तर है, इसलिए उसे मन आदि का आत्मा कहा गया है। **ज्ञानं बुद्धिमात्मनि महति प्रथमजे नियच्छेत्।** ज्ञान अर्थात् बुद्धि को महान् आत्मा प्रथम उत्पन्न मह–त्तत्त्व में विलय करे। **प्रथमजवत्स्वच्छस्वभावकमात्मनो विज्ञानमापाद–येदित्यर्थः।** अर्थात् महत्तत्त्व के समान अपना स्वच्छ स्वभाव वाला विज्ञान का संपादन करे। **तं च महान्तमात्मानं यच्छेच्छान्ते सर्वविशे–षप्रत्यस्तमितरूपेऽविक्रिये सर्वान्तरे सर्वबुद्धिप्रत्ययसाक्षिणि मुख्य आत्मनि।। १३।।** उस महान् आत्मा को समस्त विशेषों से रहित, अविक्रिय, सर्वान्तर, बुद्धि के समस्त प्रत्यय के साक्षी मुख्य आत्मा में लीन करे।। १३।।

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत। क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति।। १४।।

उत्तिष्ठत जाग्रत वरान् प्राप्य निबोधत- अनादि अविद्या से सोये हुए उठो, जागो। श्रेष्ठ गुरु को प्राप्त कर उससे आत्मतत्त्व को जानो। **कवयः तत् पथः क्षुरस्य धारा (इव) निशिता (अतः) दुरत्यया दुर्गं वदन्ति-** क्योंकि विद्वानों ने आत्मप्राप्ति मार्ग को तेज किया गया छुरे धार के समान सूक्ष्म बुद्धि के विषय है। तथा इसे पार करना कष्टसाध्य होने से दुर्गम कहा है।। १४।।

टीका- क्रमसे विषयों में दोष दर्शन से और अभ्यास से बाह्य-करण एवं अन्तःकरण के व्यापार के प्रविलाप (विलय) होने पर प्रविलाप के कर्ता को कौन से पुरुषार्थ की सिद्धि होती है, इस पर कहते हैं- **एवं पुरुष आत्मनि सर्वं प्रविलाप्य नामरूपकर्मत्रयं यन्मिथ्याज्ञानविजृम्भितं क्रियाकारक-फललक्षणं स्वात्मयाथात्यज्ञानेन मरीच्युदकरज्जुसर्पगगनमलानीव मरी-चिरज्जुगगनस्वरूपदर्शनेनैव स्वस्थः प्रशान्तात्मा कृतकृत्यो भवति यतो-ऽतस्तद्दर्शनार्थमनाद्यविद्याप्रसुप्ता उत्तिष्ठत, हे जन्तवः। आत्मज्ञानाभि-मुखा भवत,** - क्योंकि पूर्वोक्त कहे गये प्रकार से पुरुष, क्रिया-कारक-फल लक्षण वाला तीनों नाम-रूप-कर्म जो मिथ्याज्ञान से प्रकट हुआ है, इन सब को अपनी आत्मा में विलीन कर, मरु-मरीचिका का जल, रस्सी में सर्प और आकाश में मल के समान मरीचिका, रज्जु और आकाश के स्वरूप दर्शन के समान आत्मा के यथार्थ ज्ञान से स्वस्थ (आत्मा में स्थित) प्रशान्त आत्मा कृतकृत्य होता है, इसलिए उस आत्मा के दर्शन के लिए अनादि अविद्या में सोये हुए हे प्राणि समुदाय उठो। अर्थात् आत्मज्ञान के अभिमुख हो जाओ। **जाग्रताज्ञाननिद्राया घोररूपायाः सर्वानर्थबीजभूतायाः क्षयं कुरुत।** समस्त अनर्थ के बीज रूप घोर स्वरूप अज्ञान निद्रा से जागो अर्थात् उस अज्ञान का नाश करो। **कथम्। प्राप्योपगम्य वरा-न्नप्रकृष्टानाचार्यांस्तद्विदस्तदुपदिष्टं सर्वान्तरमात्मानमहमस्मीति निबोध-तावगच्छत।** किस प्रकार अज्ञान का नाश करें? उस आत्मा को जानने वाले श्रेष्ठ आचार्य के पास जा कर उनके उपदिष्ट सब के अन्दर अवस्थित आत्मा (परमात्मा) मैं हूँ इस प्रकार अनुभव करो।

न ह्युपेक्षितव्यमिति श्रुतिरनुकम्पयाऽऽह मातृवत् अतिसूक्ष्मबुद्धिविषय-त्वाज्ज्ञेयस्य। उपेक्षा नहीं करनी चाहिए इस बात को श्रुति ने माता के समान अनुकम्पा (करुणा,दया) से कहा है क्योंकि ज्ञेय (आत्मा, परमात्मा) अत्यन्त सूक्ष्म-बुद्धि का विषय है। **किमिव सूक्ष्मबुद्धिरित्यु-च्यते। क्षुरस्य धाराऽग्रं निशिता तीक्ष्णीकृता दुरत्यया दुःखेनात्ययो यस्याः सा दुरत्यया। यथा सा पद्भ्यां दुर्गमनीया तथा दुर्गं दुःसंपाद्य-मित्येतत्पथः पन्थानं तत्त्वज्ञानलक्षणं मार्गं कवयो मेधाविनो वदन्ति ।** सूक्ष्मबुद्धि किस प्रकार की होती है इस पर श्रुति ने कहा कि जैसे छूर की धार अर्थात् अग्रभाग पैनी की गयी हो वह दुरत्यया अर्थात् जिसे दुःख से पार किया जा सकता है। उस पर चलना जैसे अत्यन्त कष्टसाध्य है वैसे दुर्ग अर्थात् वह पथ अर्थात् तत्त्वज्ञान लक्षण वाला मार्ग दुःख से संपादन योग्य है, ऐसे कवि अर्थात् मेधावी लोग कहते हैं। **ज्ञेयस्यातिसूक्ष्मत्वात्तद्विषयस्य ज्ञानमार्गस्य दुःसंपाद्यत्वं वदन्तीत्यभिप्रायः।। १४।।** ज्ञेय अति सूक्ष्म होने से उस के विषय ज्ञानमार्ग दुःख से संपादन योग्य है इस प्रकार कहते हैं। यह अभिप्राय है।। १४।।

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्। अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्र-मुच्यते।। १५।।

यत् अशब्दं अस्पर्शं अरूपं अव्ययं तथा अरसं नित्यं अगन्धवत् च अनादि अनन्तं महतः परं ध्रुवं - जो ब्रह्म शब्द से रहित, स्पर्श से रहित, जिसका कोई रूप नहीं है, जिसका व्यय अर्थात् क्षय नहीं होता, और रसहीन, नित्य, गन्धहीन, अनादि अर्थात् जिसका आदि (कारण) नहीं है, अनन्त अर्थात् व्यापक, जो महतत्त्व से परे है अर्थात् उससे भी सूक्ष्म है, **तत् निचाय्य मृत्यु मुखात् प्रमुच्यते-** उसे जानकर मृत्यु मुख से छूट जाता है।। १५।।

तत्कथमतिसूक्ष्मत्वं ज्ञेयस्येत्युच्यते- वह ज्ञेय कैसे अतिसूक्ष्म है उसे श्रुति द्वारा कहा जाता है। टीका- पृथिवी आदि में जैसे जैसे गुणों का अपचय (की न्यूनता) वैसे वैसे तारतम्यता (अनुपात) से सूक्ष्मता देखी गयी है। परमात्मा में गुणों का अत्यन्त अभाव के कारण निरतिशय सूक्ष्मता सिद्ध होती है, इस बात को कहते हैं- **स्थूला तावदियं मेदिनी शब्दस्पर्शरूपरस-गन्धोपचिता सर्वेन्द्रियविषयभूता तथा शरीरम्। तत्रैकैकगुणापकर्षेण गन्धादीनां सूक्ष्मत्वमहत्त्वविशुद्धत्वनित्यत्वादितारतम्यं दृष्टमबादिषु याव-दाकाशमिति ते गन्धादयः सर्व एव स्थूलत्वादिकारणाः शब्दान्ता यत्र न सन्ति किमु सूक्ष्मत्वादिनिरतिशयत्वं वक्तव्यमित्येद्दर्शयति श्रुतिः-** शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध से युक्त यह पृथिवी स्थूल है वैसे शरीर भी स्थूल है। वहाँ गन्ध आदि के एक-एक गुण की न्यूनता से सूक्ष्मत्व, महत्त्व(व्यापकत्व), विशुद्धत्व, नित्यत्व(आपेक्षिक) तारतम्य से जल आदि से लेकर आकाश पर्यन्त वे स्थूल आदि के कारण गन्ध आदि से शब्द तक जिस ब्रह्म में नहीं है तो सूक्ष्मत्व आदि के निरति-शयता उसमें है, इस पर क्या कहना है। अर्थात् उसमें निरतिशय सूक्ष्मता है। इसी बात को श्रुति दिखा रही है।

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्यं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्। एतद्व्याख्यातं ब्रह्माव्ययम्। जो शब्दस्पर्शरूपरसगन्ध से रहित व्यय रहित नित्य है। इस प्रकार व्याख्या किया गया ब्रह्म अव्यय है। **यद्धि शब्दादिमत्तद्-व्येतीदं त्वशब्दादिमत्त्वादव्ययं न व्येति न क्षीयते, अत एव च नित्यं, यद्धि व्येति तदनित्यमिदं तु न व्येत्यतो नित्यम्।** जो शब्दादि वाला होता है उसका व्यय होता है। यह तो शब्दादिवाला न होने से अव्यय है। इसका व्यय नहीं होता है अर्थात् क्षय नहीं होता है, इसलिए ही यह नित्य है। जिसका व्यय(क्षय) होता है वह अनित्य होता है। इसका व्यय नहीं होता है इसलिए नित्य है। **इतश्च नित्य-मनाद्यविद्यमान आदिः कारणमस्य तदिदमनादि। यद्ध्यादिमत्तत्कार्यत्वा-दनित्यं कारणे प्रलीयते यथा पृथिव्यादि। इदं तु सर्वकारणत्वादकार्य-मकार्यत्वान्नित्यं न तस्य कारणमस्ति यस्मिन्प्रलीयते।** इस हेतु से भी

ब्रह्म नित्य है। क्योंकि वह अनादि है। जिसकी आदि अर्थात् कारण नहीं होता है वह यह अनादि है। जो ही आदि वाला होता है वह कार्य होने से अनित्य है और अपने कारण में लीन हो जाता है, जैसे पृथिवी आदि। यह ब्रह्म तो सभी के कारण होने से कार्य नहीं है। कार्य नहीं होने से नित्य है। उसका कोई कारण नहीं है, जिसमें वह प्रलीन होता है। **तथाऽनन्तमविद्यमानोऽन्तः कार्यमस्य तदनन्तम्। यथा कदल्यादेः फलादिकार्योत्पादनेनाप्यनित्यत्वं दृष्टं न च तथाऽप्य-न्तवत्त्वं ब्रह्मणोऽतोऽपि नित्यम्।** और ब्रह्म अनन्त है। जिसका अन्तः अर्थात् कार्य रूप में परिणाम नहीं होता वह अनन्त है। जैसे केले आदि वृक्ष फल आदि कार्य उत्पादन के द्वारा अनित्य देखे गये है, वैसे भी ब्रह्म का अन्तवाला होना नहीं है, इसलिए भी नित्य है। **महतो महत्तत्त्वाद्बुद्ध्याख्यात्परं विलक्षणं नित्यविज्ञप्तिस्वरूपत्वात्सर्व-साक्षि हि सर्वभूतात्मत्वाद्ब्रह्म।** नित्य विज्ञप्ति स्वरूप होने से सब का साक्षी है और समस्त प्राणियों की आत्मा होने से ब्रह्म, बुद्धि नामवाले महत्तत्त्व से पर अर्थात् विलक्षण है। **उक्तं ह्येष सर्वेषु भूते-ष्वित्यादि।** यह बात 'एष सर्वेषु भूतेषु गूढोऽऽत्मा न प्रकाशते' मंत्र द्वारा कही गयी है। **ध्रुवं च कूटस्थं नित्यं न पृथिव्यदिवदापेक्षिकं नित्यत्वम्।** ध्रुव अर्थात् कूटस्थ नित्य है। पृथिवी आदि के समान आपेक्षिक नित्य नहीं है। **तदेवंभूतं ब्रह्मात्मानं निचाय्यावगम्य तमात्मानं मृत्युमुखान्मृत्युगोचरादविद्याकामकर्मलक्षणात्प्रमुच्यते वियुज्यते।। १५।।** ऐसे उस ब्रह्म स्वरूप आत्मा को निचाय्य अर्थात् जान कर मृत्यु के मुख से अर्थात् अविद्या-काम-कर्म लक्षण वाले मृत्यु के विषयों से मुक्त हो जाता है अर्थात् छूट जाता है।। १५।।

नाचिकेतमुपाख्यानं मृत्युप्रोक्तँ सनातनम्।
उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते।। १६।।

मेधावी मृत्युप्रोक्तं सनातनं नाचिकेतं उपाख्यानं उक्त्वा श्रुत्वा च ब्रह्मलोके महीयते- बुद्धिमान मनुष्य मृत्यु द्वारा कहे गये सनातन

नाचिकेत उपाख्यान को ब्राह्मणों से कह कर या आचार्य से सुन कर ब्रह्मलोक में महिमा को प्राप्त करता है। अर्थात् ब्रह्म स्वरूप होकर उपास्य हो जाता है।। १६ ।।

प्रस्तुतविज्ञानस्तुत्यर्थमाह श्रुतिः- प्रस्तुत किया गया विज्ञान की स्तुति के लिए श्रुति कहती है- **नाचिकेतं नचिकेतसा प्राप्तं नाचिकेतं मृत्युना प्रोक्तं मृत्युप्रोक्तमिदमाख्यानमुपाख्यानं वल्लीत्रयलक्षणं सनातनं चिरंतनं वैदिकत्वादुक्त्वा ब्राह्मणेभ्यः श्रुत्वाऽऽचार्येभ्यो मेधावी ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोकस्तस्मिन्महीयत आत्मभूत उपास्यो भवतीत्यर्थः।। १६ ।।** मृत्यु द्वारा कहा गया तथा नचिकेता द्वारा प्राप्त तीन बल्ली लक्षण वाला नाचिकेत उपाख्यान (आख्यायिका, छोटी कथा) को, वैदिक होने से सनातन अर्थात् चिरंतन (नित्य) है, जो ब्राह्मणों को सुना कर या आचार्य से सुन कर ब्रह्म ही लोक है ऐसे ब्रह्मलोक में महिमा को प्राप्त करता है अर्थात् ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त कर उपास्य होता है।। १६ ।।

य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद्ब्रह्मसंसदि। प्रयतः श्राद्ध-काले वा तदानन्त्याय कल्पते तदानन्त्याय कल्पत इति।। १७।।

इति काठकोपनिषदि प्रथमाध्याये तृतीया वल्ली समाप्ता।। ३।।

इति काठकोपनिषदि प्रथमोऽध्यायः समाप्तः।। १।।

यः प्रयतः इमं परमं गुह्यं ब्रह्मसंसदि श्रावयेत् श्राद्धकाले वा श्रावयेत् तत् आनन्त्याय कल्पते तत् आनन्त्याय कल्पते- जो कोई पवित्र होकर इस उत्कृष्ट गोपनीय आख्यान को ब्राह्मणों की सभा

में सुनाता है अथवा श्राद्ध के समय भोजन करनेवाले ब्राह्मणों को सुनाता है, तो उसको अनन्त पुण्य की प्राप्ति होती है।। १७।।

यः कश्चिदिमं ग्रन्थं परमं प्रकृष्टं गुह्यं गोप्यं श्रावयेद् ग्रन्थतो-ऽर्थतश्च ब्राह्मणानां संसदि ब्रह्मसंसदि प्रयतः शुचिर्भूत्वा श्राद्धकाले वा श्रावयेद्भूंजानानां तच्छ्राद्धमस्याऽऽनन्त्यायानन्तफलाय कल्पते संपद्यते। द्विर्वचनमध्यायपरिसमाप्त्यर्थम्।। १७।। जो कोई शुद्धता से इस उत्कृष्ट गोपनीय ग्रन्थ को बिना अर्थ के अथवा अर्थ के साथ ब्राह्मणों की सभा में सुनाता है, अथवा श्राद्ध के समय भोजन करने वाले ब्राह्मणों को सुनाता है, उस श्राद्ध का फल अनन्त गुणा हो जाता है। दूबारा कथन अध्याय की परिसमाप्ति के लिए है।। १७।।

इति काठकोपनिषदि प्रथमध्याये तृतीयवल्लीभाष्यं समाप्तम्।। ३।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमदाचार्य-श्रीशंकरभगवतः कृतौ काठकोपनिषद्भाष्ये प्रथमोऽध्यायः समाप्तः।। १।।

अथ द्वितीयाध्याये प्रथमवल्ली

परांचि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षु-रमृतत्वमिच्छन्।। १।।

स्वयंभूः खानि परांचि व्यतृणत्- परमेश्वर ने इन्द्रियों को बाहर की और बनाया है, **तस्मात् पराक् पश्यन्ति-** इसलिए लोग बाहर की और देखते हैं, **न आन्तरात्मन्-** अन्तरात्मा को कोई नहीं देखता है। **कश्चित् धीरः अमृतत्वं इच्छन्-** कोई बिरला बुद्धिमान पुरुष अमृतत्व की इच्छा से **आवृत्तचक्षुः-** इन्द्रियों को विषयों से हटा कर, **प्रत्यक् आत्मानं ऐक्षत्-** अन्तरात्मा का साक्षात्कार करता है।। १।।

टीका- अनादि अविद्या रूप प्रतिबंध यह पहले कहा गया। अब आगन्तुक प्रतिबन्ध को दिखाने के लिए आगे की वल्ली का आरंभ हो रहा है। इससे दोनों का संबन्ध कहते हैं- **एष सर्वेषु भूतेषु गूढोऽऽत्मा न**

प्रकाशते दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्येत्युक्तम्। यह आत्मा सभी प्राणियों में गूढ़ अर्थात् छिपा हुआ है, इसलिए प्रकाशित नहीं होता है। किन्तु एकाग्र बुद्धि से देखा जाता है, यह कहा गया है। **कः पुनः प्रति–बन्धोऽग्र्यया बुद्धेर्येन तदभावादात्मा न दृश्यते इति तददर्शनकारण–प्रदर्शनार्था वल्ल्यारभ्यते।** तो फिर एकाग्र बुद्धि में कौन सा प्रतिबन्ध है, जिस एकाग्र बुद्धि के अभाव से आत्मा नहीं दीखता है, इस पर उसके दर्शन के कारण को दिखाने के लिए वल्ली का आरंभ होता है। **विज्ञाते हि श्रेयःप्रतिबन्धकारणे तदपनयनाय यत्न आरब्धुं शक्यते नान्यथेति–** श्रेय के प्रतिबन्ध के कारण का ज्ञान होने से उसके निवारण के लिए प्रयत्न का आरंभ किया जा सकता है, अन्यथा नहीं। **परांचि परागंचन्ति गच्छन्तीति खानि तदुपलक्षितानि श्रोत्रादीनी–न्द्रियाणि खानीत्युच्यन्ते। तानि परांच्येव शब्दादिविषयप्रकाशनाय प्रवर्तन्ते। यस्मादेवं स्वाभाविकानि तानि व्यतृणद्धिंसितवान्हननं कृत–वानित्यर्थः। कौऽसौ। स्वयंभूः परमेश्वरः स्वयमेव स्वतन्त्रो भवति सर्वदा न परतन्त्र इति।** खानि छिद्र इन्द्रियगोलक उनसे उपलक्षित इन्द्रियाँ खानि शब्द से कहे जाते हैं। वे इन्द्रियाँ शब्द आदि विषयों के प्रकाशन के लिए बाहर की ओर अंचन्ति अर्थात् जाते है अर्थात् प्रवृत्त होते हैं। जब की ऐसी बात है कि वे स्वाभाविक है उनकी हिंसा की अर्थात् हनन किया अर्थात् मानो बाहर की ओर बना कर मार ड़ाला। (वि+अतृणत्- व्यतृणत् तृह् हिंसायाम्) हिंसा करनेवाला वह कौन है। स्वयंभू अर्थात् परमेश्वर। सदा स्वतन्त्र होकर स्वयं होता है इसलिए स्वयंभू है परतन्त्र नहीं है। **टीका–** यदि इन्द्रियाँ अन्तर्मुख होंगे तब वे आत्मनिष्ठ होकर अमृतत्व को प्राप्त करेंगे इससे इन्द्रियों को बहिर्मुख बनाया, यही उनका हनन ही किया है, यह अर्थ है। **तस्मात्पराङ्पराग्रूपा–ननात्मभूतांशब्दादीन्पश्यत्युपलभत उपलब्धा, नान्तरात्मन्नान्तरात्मान–मित्यर्थः।** इसलिए उपलब्धा (जीव) बाह्य अनात्म–रूप शब्द आदि को देखता है अर्थात् उपलब्ध करता है, किन्तु अन्तरात्मा को नहीं। **एवंस्वभावेऽपि सति लोकस्य कश्चिन्नद्याः प्रतिस्रोतः प्रवर्तनमिव धीरो**

धीमान्विवेकी प्रत्यगात्मानं प्रत्यक्चासावात्मा चेति प्रत्यगात्मा। प्रतीच्येवाऽऽत्मशब्दो रूढो लोके नान्यस्मिन्। व्युत्पत्तिपक्षेऽपि तत्रैवाऽऽत्मशब्दो वर्तते। 'यच्चाऽऽप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह। यच्चास्य संततो भावस्तस्मादात्मेति कीर्त्यते।।' इत्यात्मशब्दव्युत्पत्तिस्मरणात्। तं प्रत्यगात्मानं स्वं स्वभावमैक्षदपश्यत्पशतीत्यर्थः। छन्दसि कालानियमात्। साधारण मनुष्यों का स्वभाव ऐसा होने पर भी, नदी के प्रवाह के विपरीत दिशा में जाने के सदृश कोई धीर अर्थात् विवकी अपने स्वभाव प्रत्यक्-आत्मा को देखता है। जो प्रत्यक है और आत्मा है ऐसे प्रत्यक्-आत्मा। संसार में प्रत्यक् अर्थात् आन्तर में आत्मा शब्द रूढ़ है अन्यत्र नहीं है। व्युत्पत्ति पक्ष में भी आत्मशब्द प्रत्यक् को बोधित करता है। (आप्लृ व्याप्तौ, डुदाञ् दाने, अद भक्षणे, अत सातत्य गमने इन धातूओं से आत्मा शब्द की निष्पत्ति होती है) जो विषयों का व्याप्त करता है, ग्रहण करता है अर्थात् संहार करता है और भक्षण करता है अर्थात् चैतन्य स्वभाव से उपलब्ध करता है तथा जो इसका सातत्य भाव (सदा विद्यमान होना) है इससे आत्मा कहा जाता है। इस प्रकार आत्मा शब्द की व्युत्पत्ति स्मृति ग्रन्थों में कहा है। उस प्रत्यक् आत्मा को स्वं-अपने को स्वभावं-अपना पारमार्थिक भाव को देखा था अर्थात् देखता है। छन्द में अर्थात् वेद में काल का नियम नहीं होता है। **टीका**- आप्लृ व्याप्तौ इस धातु के अर्थ अनुसार आत्मा शब्द व्यापक अर्थवाला है। जिससे सब कुछ आत्मा में आदत्ते अर्थात् उपसंहार करता है इससे वह संसार का उपादान है इस अर्थ का लाभ होता है। जो विषयों को अत्ति-भोग करता है इस लिए आत्मा है इस व्युत्पत्ति से अपने चैतन्य के आभास से आत्मा में उपलब्धृता आत्मा शब्द का अर्थ है। जिस कारण से इस आत्मा का संतत अर्थात् निरन्तर भाव है इसलिए आत्मा है। क्योंकि कल्पित वस्तु का अधिष्ठान से अतिरिक्त सत्ता का अभाव होने से रज्जु में सर्प अध्यस्त होने पर, जैसे रज्जु का सातत्य है वैसे समस्त कल्पित जिससे स्वरूपवाला होते हैं वह आत्मा है, यह अर्थ है। **कथं पश्यतीत्युच्यते। आवृत्तचक्षुरावृत्तं व्यावृत्तं चक्षुःश्रोत्रादिकमिन्द्रियजातमशेषविषयाद्यस्य स आवृत्तचक्षुः। स एवं संस्कृतः प्रत्यगात्मानं पश्यति।** कैसे देखता है,

उसे कहते हैं। चक्षु उपलक्षित समस्त श्रोत्र आदि इन्द्रियों को समस्त विषयों से व्यावृत्त किया है (हटा दिया है) जिसने वह आवृत्तचक्षु है। इस प्रकार संस्कार से युक्त वह प्रत्यक्-आत्मा को देखता है। **न हि बाह्यविषयालोचनपरत्वं प्रत्यगात्मेक्षणं चैकस्य संभवति।** एक पुरुष में बाहर के विषयों का आलोचन परता और प्रत्यक्-आत्मा का दर्शन संभव नहीं है। (अर्थात् विषयपरायण व्यक्ति आत्मा का साक्षात्कार नहीं कर सकता है।) **किमर्थं पुनरित्थं महता प्रयासेन स्वभावप्रवृत्ति-निरोधं कृत्वा धीरः प्रत्यगात्मानं पश्यतीत्युच्यते। अमृतत्वममरणधर्मत्वं नित्यस्वभावतामिच्छन्नात्मन इत्यर्थः।। १।।** फिर किस प्रयोजन के लिए महान प्रयत्न से स्वभाविक प्रवृत्ति का निरोध करके बुद्धिमान अन्तरात्मा को देखता है। इस प्रकार कहा जाता है। अमृतत्व अर्थात् अमरणधर्मत्व, आत्मा का नित्य स्वभाव को इच्छा करता हुआ (स्वभाव प्रवृत्ति का निरोध करके आत्मा का साक्षात्कार करता है)।। १।।

पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्। अथ धीराः अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते।। २।।

बालाः पराचः कामान् अनुयन्ति- बालक अर्थात् अज्ञानी बाहर के काम्य पदार्थों का अनुगमन (अनुसरण) करते हैं **ते मृत्योः विततस्य पाशं यन्ति-** वे मृत्यु के फैले हुए फाँस को प्राप्त करते हैं अर्थात् फाँस में फंस जाते हैं। **अथ धीराः ध्रुवं अमृतत्वं विदित्वा-** इससे विपरीत बुद्धिमान नित्य अमरत्व को जान कर, **इह अध्रुवेषु न प्रार्थयन्ते-** इस संसार में अनित्य वस्तु की इच्छा नहीं रखते हैं।। २।।

यत्तावत्स्वाभाविकं परागेवानात्मदर्शनं तदात्मदर्शनस्य प्रतिबन्ध-कारणमविद्या तत्प्रतिकूलत्वाद्या च परागेवाविद्योपदर्शितेषु दृष्टादृष्टेषु भोगेषु तृष्णा ताभ्यामविद्यातृष्णाभ्यां प्रतिवद्धात्मदर्शनाः पराचो बहिर्ग-

तानेव कामान्काम्यान्विषयाननुयन्ति अनुगच्छन्ति बाला अल्पप्रज्ञास्ते तेन कारणेन मृत्योरविद्याकामकर्मसमुदायस्य यन्ति गच्छन्ति विततस्य विस्तीर्णस्य सर्वतो व्याप्तस्य पाशं पाश्यन्ते बध्यन्ते येन तं पाशं देहे-न्द्रियादिसंयोगवियोगलक्षणम्। जो फिर स्वाभाविक बाहर का अनात्म दर्शन है, वह प्रतिकूल होने से आत्मदर्शन के प्रतिबन्ध के कारण अविद्या है, और जो बाहर, अविद्या से उपदर्शित (सूचित) दृष्ट और अदृष्ट भोगों में तृष्णा है, उन दोनों अविद्या और तृष्णा से प्रतिबन्धित है आत्मदर्शन जिनका वे बालक अर्थात् अल्पबुद्धि वाले पराक् कामान् अर्थात् बाहर के काम्य विषयों का अनुगमन करते हैं, उस कारण से सर्वत्र व्यापक अविद्या-काम-कर्म के समुदाय रूप मृत्यु के फाँस को प्राप्त करते हैं अर्थात् उस फाँस में फँस जाते हैं। देह,इन्द्रियों के संयोग वियोग रूप पाश से बन्धे जाने के कारण वे पाश कहे जाते हैं। **अनवरतजन्ममरणजरारोगद्यनेकानर्थव्रातं प्रतिप-द्यन्त इत्यर्थः।** अर्थात् सदा जन्म, मरण, जरा, रोग आदि अनेक अनर्थ समुदाय को प्राप्त होते हैं। **यत एवमथ तस्माद्धीरा विवेकिनः प्रत्यगात्मस्वरूपावस्थानलक्षणममृतत्वं ध्रुवं विदित्वा, देवाद्यमृतत्वं ह्यध्रुव-मिदं तु प्रत्यगात्मस्वरूपावस्थानलक्षणं 'न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्' (बृ.४.४.२३) इति ध्रुवम्।** जब की ऐसी बात है, इसलिए धीर अर्थात् विवेकी लोग अन्तरात्मा-स्वरूप में अवस्थान लक्षण वाला अमृतत्व, ध्रुव (नित्य) को जान कर, (अध्रुव की इच्छा नहीं करते हैं।) देवता भाव रूप अमृतत्व अनित्य है, यह अन्तरात्मा के स्वरूप में अवस्थान लक्षण वाला अमृतत्व तो ध्रुव (नित्य) है। इसमें बृहदारण्यक का प्रमाण है कि 'यह कर्मों से न बढता है और न घटता है'। **तदेवंभुतं कूटस्थमविचाल्यममृतत्वं विदित्वाऽध्रुवेषु सर्वपदा-र्थेष्वनित्येषु निर्धार्य ब्राह्मणा इह संसारेऽनर्थप्राये न प्रार्थयन्ते किंचि-दपि प्रत्यगात्मदर्शनप्रतिकूलत्वात्। पुत्रवित्तलोकैषणाभ्यो व्युत्तिष्ठन्त्येवे-त्यर्थः।। २।।** इस प्रकार के कूटस्थ अविचलित अमृतत्व को जान कर अध्रुव अर्थात् अनित्य समस्त पदार्थों में निश्चय करके, ब्राह्मण

इस अनर्थप्रायः संसार में अन्तरात्मदर्शन के प्रतिकूल होने से किसी भी पदार्थो की इच्छा नहीं करते। अर्थात् पुत्र, वित्त और लोक एषणाओं से ऊपर उठ जाते हैं।। २।।

येन रूपं रसं गन्धं शब्दान्स्पर्शाँश्च मैथुनान्। एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते। एतद्वै तत्।। ३।।

येन एतेन एव रूपं रसं गन्धं शब्दान् स्पर्शान् च मैथुनान् विजानाति एतत् वै तत्- जिस इस विज्ञान स्वभाव आत्मा से रूप, रस, गन्ध, शब्द, मैथुन सुख को मनुष्य जानता है, यह वह आत्मा है जिसे तुमने पूछा था। **अत्र किं परिशिष्यते-** यहाँ आत्मा के अविज्ञेय और क्या बच जाता है अर्थात् कुछ भी नहीं बचता है।। ३।।

टीका- उस आत्मा का ज्ञान कैसे होता है? वैदिक होने से धर्म के जैसे परोक्ष रूप से अथवा घट आदि सिद्ध वस्तु के समान अपरोक्ष रूप से? ऐसी आकांक्षा होने पर कहते हैं कि ब्रह्म आत्मा होने से अपरोक्ष रूप से उसका ज्ञान ही यथार्थ ज्ञान है। इसे येन रूप इत्यादि मंत्रों से कहा जाता है।

यद्विज्ञानान्न किंचिदन्यत्प्रार्थयन्ते ब्राह्मणाः कथं तदधिगम इति। उच्यत। येन विज्ञानस्वभावेनाऽऽत्मना रूपं रसं गन्धं शब्दान्स्पर्शांश्च मैथुनान्मिथुनिमित्तान्सुखप्रत्ययान्विजानाति विष्पष्टं जानाति सर्वो लोकः। जिसके विज्ञान से ब्राह्मण और कुछ उससे भिन्न की इच्छा नहीं करते उसका ज्ञान किस प्रकार होता है? कहते हैं। जिस विज्ञान स्वभाव आत्मा के द्वारा रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श और मैथुन से होने वाले सुख के प्रत्यय (भाव) को सभी लोग अच्छी तरह से जानते हैं। **ननु नैवं प्रसिद्धिर्लोकस्याऽऽत्मना देहादिविलक्षणे- नाहं विजानामीति।** शंका- देह आदि से विलक्षण आत्मा द्वारा मैं जानता हूँ ऐसी लोगों में प्रसिद्धि नहीं है। **देहादिसंघातोऽहं विजाना- मीति तु सर्वो लोकोऽवगच्छति।** देह आदि संघात वाला मैं जानता हूँ, इस प्रकार सभी लोग समझते हैं। टीका- अज्ञानियों का देह आदि से भिन्न आत्मा के द्वारा देह आदि का वेद्यत्व (ज्ञान विषयत्व) यद्यपि प्रसिद्ध नहीं

है, तथापि विचारकों का देह आदि से व्यतिरिक्त आत्मा के द्वारा देह आदि का वेद्यत्व प्रसिद्ध है, इससे यत् शब्द से प्रसिद्ध के समान परामर्श का विरोध नहीं है इस प्रकार परिहार देते है- **न त्वेवम्। देहादिसंघातस्यापि शब्दादि-स्वरूपत्वाविशेषाद्विज्ञेयत्वाविशेषाच्च न युक्तं विज्ञातृत्वम्।** ऐसी बात नहीं है। देह आदि संघात भी शब्द आदि का स्वरूप वाला है अर्थात् भूतों का कार्य है तथा शब्द आदि के समान आत्मा से विज्ञेय है, इसलिए उसमें विज्ञातृत्व कहना सही नहीं है। टीका- दैहिक शब्दादि, अपने को या अन्य को नहीं जान सकते, शब्दादि होने से और दृश्य होने से, बाह्य वस्तु के समान, यह तर्क है। विपक्ष में बाधम कहते हैं- **यदि हि देहादिसंघातो रूपद्यात्मकः सन्रूपादीन्विजानीयाद्बाह्या अपि रूपा-दयोऽन्योन्यं स्वं स्वं रूपं च विजानीयुः।** रूप आदि स्वरूप होते हुए देह आदि संघात रूप आदि को जान सकते हैं तो बाह्य रूप आदि परस्पर को और अपने रूप को जान सकेंगे। **नचैतदस्ति। तस्माद्-देहादिलक्षणांश्च रूपादीनेतेनैव देहादिव्यतिरिक्तेनैव विज्ञानस्वभावेनाऽ-ऽत्मना विजानाति लोकः।** परन्तु ऐसा होता नहीं। इसलिए देह आदि लक्षणवाले रूप आदि इसी देहादि से व्यतिरिक्त विज्ञान-स्वभाव आत्मा के द्वारा लोग जानते हैं। (भाष्यकार ने जो लिखा है आत्मा के द्वारा लोग जानते हैं, इसमें मुझे अरुचि है। यद्यपि यह मंत्र के अनुरूप है फिर भी विज्ञान स्वरूप आत्मा जानता है यह कहना ठीक था।) **यथा येन लोहो दहति सोऽग्निरिति तद्वत्।** जैसे जिसके द्वारा लौहपिंड जलाता है वह अग्नि है। **आत्मनोऽविज्ञेयं किमत्रास्मिँल्लोके परिशिष्यते, न किंचित्परिशिष्यते। सर्वमेव त्वात्मना विज्ञेयम्।** आत्मा के लिए अविज्ञेय (जानने के लिए अयोग्य) क्या बच जाता है अर्थात् कुछ भी नहीं बचता है। सब कुछ आत्मा के द्वारा विज्ञेय हैअर्थात् सब कुछ को जानने वाला आत्मा है। **यस्यात्मनोऽविज्ञेयं न किंचित्परिशि-ष्यते स आत्मा सर्वज्ञः।** जिससे आत्मा का अविज्ञेय कुछ भी नहीं बचता है इससे आत्मा सर्वज्ञ है। **एतद्वै तत्। किं तद्यन्नचिकेतसा पृष्टं देवादिभिरपि विचिकित्सितं धर्मादिभ्योऽन्यद्विष्णोः परमं पदं**

यस्मात्परं नास्ति तद्वा एतदधिगतमित्यर्थः।। ३।। यह निश्चित रूप से वह है। वह क्या है? जो नचिकेता द्वारा पूछा गया था, जिसे देवताओं ने जानने की इच्छा की थी, जो धर्म अधर्म आदि से भिन्न है, जो विष्णु का परम पद है, जिससे परे और कुछ नहीं है, वह यही ब्रह्मपद है जो अब अधिगत (प्राप्त) हो गया है। यह इसका तात्पर्य है।। ३।।

स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति।। ४।।

येन स्वप्नान्तं जागरितान्तं च उभौ अनुपश्यति- जिस आत्मा से स्वप्न के और जाग्रत के पदार्थ दोनों को मनुष्य देखता है, **(तं) महान्तं विभुं आत्मानं मत्वा-** उस महान व्यापक आत्मा को जान कर, **धीरः न शोचति-** बुद्धिमान पुरुष शोक नहीं करता है।। ४।।

अतिसूक्ष्मत्वाद्दुर्विज्ञयमिति मत्वैतमेवार्थं पुनः पुनराह- ब्रह्म स्वरूप आत्मा अत्यन्त सूक्ष्म होने से कष्ट से जानने योग्य है, इसी बात को समझ कर श्रुति उसी अर्थ को बार-बार कहती है- **स्वप्नान्तं स्वप्नमध्यं स्वप्नविज्ञेयमित्यर्थः। तथा जागरितान्तं जागरित-मध्यं जागरितविज्ञेयं च।** स्वप्न के अन्त अर्थात् स्वप्न के मध्य स्वप्न में जानने योग्य पदार्थ, तथा जागरित के अन्त अर्थात् जागरित के मध्य जाग्रत के विज्ञेय पदार्थ। **उभौ स्वप्नजागरितान्तौ येनाऽऽत्मनाऽनुपश्यति लोक इति सर्वं पूर्ववत्।** उन दोनों स्वप्न और जाग्रत के पदार्थों को जिस आत्म ज्योति से संसार देखता है। इस प्रकार सब कुछ पहले जैसे है। **तं महान्तं विभुमात्मानं मत्वाऽवग-म्याऽऽत्मभावेन साक्षादहमस्मि परमात्मेति धीरो न शोचति।। ४।।** उस महान् व्यापक आत्मा (ब्रह्म) को अपनी आत्मा के रूप में जान कर अर्थात् मैं परमात्मा हूँ इस प्रकार साक्षात् अनुभव कर बुद्धिमान् शोक नहीं करता है।। ४।।

य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात्।
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते। एतद्वै तत्।। ५।।

यः इमं मध्वदं आत्मानं जीवं अन्तिकात् भूतभव्यस्य ईशानं वेद– जो अधिकारी इस कर्मफल के भोक्ता जीवात्मा को समीप से अर्थात् अभिन्नतया तीन कालों के शासन कर्ता के रूप में जानता है, **ततो न विजुगुप्सते–** उस ज्ञान से वह किसी से घृणा नहीं करता है। **एतद्वै तत्–** नचिकेता ने जो पूछा था वह यही है।। ५।।

किंच यः कश्चिदिमं मध्वदं कर्मफलभुजं जीवं प्राणादिकलापस्य धारयितारमात्मानं वेद विजानात्यन्तिकादन्तिे समीपे ईशानमीशितारं भूतभव्यस्य कालत्रयस्य ततस्तद्विज्ञानादूर्ध्वमात्मानं च विजुगुप्सते न गोपायितुमिच्छत्यभयप्राप्तत्वात्। और भी जो कोई इस मधु को खाने वाला अर्थात् कर्मफल के भोक्ता, प्राण आदि समुदाय को धारण करने वाला जीव आत्मा को समीप से तीनों काल के शासन कर्ता के रूप में जानता है, उस विज्ञान के बाद अपने आप की रक्षा करना नहीं चाहता क्योंकि उसने अभय को प्राप्त हो चुका है। **यावद्धि भयमध्यस्थोऽनित्यमात्मानं मन्यते तावद्गोपायितुमिच्छत्या– त्मानम्। यदा तु नित्यमद्वैतमात्मानं विजानाति तदा किं कः कुतो वा गोपायितुमिच्छेदेतद्वै तदिति पूर्ववत्।। ५।।** जब तक भय अध्यस्त है, आत्मा को अनित्य समझता है, तब तक आत्मा की रक्षा करना चाहता है। जब नित्य अद्वैत आत्मा को जान लेता है तब कौन किस से किसकी रक्षा करना चाहेगा। एतत् वै तत् पूर्व के समान है।। ५।।

यः पूर्वं तपसो जातमद्भ्यः पूर्वमजायत। गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं यो भूतेभिर्व्यपश्यत। एतद्वै तत्।। ६।।

यः पूर्व तपसः जातं– जो पहले तपस्या से उत्पन्न हुआ हिरण्यगर्भ, **अद्भ्यः पूर्वं अजायत–** पंचमहाभूतों से पहले उत्पन्न हुआ

था, **गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं** - सभी प्राणियों के हृदय-आकाश रूपि गुहा में प्रवेश करके रहने वाला उस हिरण्यगर्भ को **यः भूतेभिः व्यपश्यत**- कार्य करण लक्षण वाले भूतों में जो देखता (जानता) है, वह ब्रह्म को जानता है। **एतद्वै तत्**- वह यह है।। ६।।

यः प्रत्यगात्मोश्वरभावेन निर्दिष्टः स सर्वात्मेत्येतद्दर्शयति। जो अन्तरात्मा ईश्वर रूप से निर्दिष्ट है वह सर्वात्मा है इसे दिखाते हैं। **यः कश्चिन्मुमुक्षुः पूर्वं प्रथमं तपसो ज्ञानादिलक्षणाद्ब्रह्मण इत्येतज्जात-मुत्पन्नं हिरण्यगर्भम्।** जो कोई मुमुक्षु, पहले ज्ञान आदि लक्षण वाली तपस्या से ब्रह्म से उत्पन्न हिरण्य गर्भ को, **किमपेक्ष्य पूर्वमित्याह अद्भ्यः पूर्वमप्सहितेभ्यः पंचभूतेभ्यो न केवलाभ्योऽद्भ्य इत्यभिप्रायः।** किसकी अपेक्षा से पहले इस पर कहते हैं जल से पहले अर्थात् जल सहित पंच महाभूतों से पहले, केवल जल से पहले नहीं, यह अभिप्राय है। **अजायत उत्पन्नो यस्तं प्रथमजं देवादिशरीराण्युत्पाद्य सर्वप्राणिगुहां हृदयाकाशं प्रविश्य तिष्ठन्तं शब्दादीनुपलभमानं भूतेभि-र्भूतैः कार्यकरणलक्षणैः सह तिष्ठन्तं यो व्यपश्यत यः पश्यतीत्येतत्। य एवं पश्यति स एतदेव पश्यति यत्तत्प्रकृतं ब्रह्म।। ६।।** जो पंच महाभूतों से पहले उत्पन्न हुआ था, देवता आदि शरीरों को उत्पन्न कर, सभी प्राणि यों के हृदय आकाश रूप गुहा में प्रवेश कर, शब्द आदि की उपलब्धि करते हुए, कार्य करण लक्षण वाले भूतों के साथ रहते हुए, उस प्रथमज को जो देखता है, वह वस्तुतः देखता है। जो इस प्रकार देखता है वह प्रसंग से प्राप्त इस ब्रह्म को ही देखता है (जानता है)।। ६।। टीका- जो कोई पहले तपस्या से उत्पन्न हिरण्यगर्भ को देखता है वह प्रसंगप्राप्त ब्रह्म को देखता है इस प्रकार संबन्ध है।

अद्भ्य पूर्व इत्यादि हिरण्यगर्भ का विशेषण है। समष्टि-अन्तःकरण के एक अंश (व्यष्टि अन्तःकरण) जीव अवच्छेदक होने से जीव से तादात्म्य की विवक्षा से शब्द आदि को उपलब्ध करता है यह विशेषण का प्रयोग हिरण्य गर्भ में हुआ है। जैसे संसार में सोने से उत्पन्न कुंडल सोना ही होता है वैसे ब्रह्म से उत्पन्न हिरण्यगर्भ भी ब्रह्मस्वरूप ही है। ६।।

या प्राणेन संभवत्यदितिर्देवतामयी। गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तीं या भूतेभिर्व्यजायत। एतद्वै तत्।। ७।।

या देवतामयी– जो समस्त देवतात्मक, **प्राणेन संभवति** हिरण्यगर्भरूप से उत्पन्न होती है, **अदितिः–** वह शब्द आदिओं को अदन अर्थात् ग्रहण करने से अदिति, **गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तीं–** प्राणियों के हृदय गुहा में प्रवेश करके रहते हुए **भूतेभिः व्यजायत–** पंच महाभूतों से समन्वित उत्पन्न हुई। **एतद्वै तत्–** वही यह प्रसंग प्राप्त ब्रह्म है।। ७।।

टीका– हिरण्य गर्भ का ही दूसरा विषेषण कहते हैं– **किंच या सर्वदेवतामयी सर्वदेवतात्मिका प्राणेन हिरण्यगर्भ– रूपेण परस्माद्ब्रह्मणः सम्भवति शब्दादीनामदनाददितिस्तां पूर्ववद् गुहां प्रविश्य तिष्टन्तीमदितिम्।** और भी समस्त देवताओं के स्वरूप वाली जो पर ब्रह्म से हिरण्यगर्भ रूप से उत्पन्न होता है, वह शब्द आदि को भोग करने से अदिति है, पहले जैसे व्याखात गुहा में प्रवेश कर रहती हुई अदिति को (जो जानता है)। **तामेव विशिनष्टि या भूते- भिर्भूतैः समन्विता व्यजायत उत्पन्नेत्येतत्।। ७।।** उस अदिति का विशेषण है जो भूतों से मिलकर उत्पन्न हुई, इस प्रकार।। ७।।

अरण्योनिहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः। दिवे दिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः। एतद्वै तत्।। ८।।

अरण्योः निहितः जातवेदा अग्निः– ऊपर और नीचे की अरणियोंमें (लकड़ी) स्थित जातवेद अग्नि, और आध्यात्मिक प्राण रूप आत्मा **गर्भिणीभिः सुभूतः गर्भ इव–** जैसे गर्भिणी स्त्रियों द्वारा गर्भ अच्छी प्रकार रक्षा की जाती है, वैसे **जागृवद्भिः हविष्मद्भिः मनुष्येभिः –** जागृत (प्रमाद रहित) हवन करने वाले मनुष्यों के द्वारा और योगियों के द्वारा रक्षा की जाती है। **दिवे दिवे ईड्यः–** वह दिन

दिन प्रतिदिन स्तुति के योग्य और पूज्य है। **एतद्वै तत्–** वही यह प्रसंग प्राप्त ब्रह्म है।। ८।।

किंच योऽधियज्ञ उत्तराधरारण्योर्निहितः स्थितो जातवेदा अग्निः पुनः सर्वहविषां भोक्ताऽध्यात्मं च योगिभिः गर्भ इच गर्भिणी-भिरन्तर्वत्नीभिरगर्हितान्नपानभोजनादिना यथा गर्भः सुभृतः सुष्टु सम्यग्भृतो लोक इतीत्थमेवर्त्विग्भिर्योगिभिश्च सुभृत इत्येतत्। और भी जो यज्ञ में ऊपर और नीचे की अरणियों में स्थित जातवेद अग्नि है तथा जो योगियों के शरीर में स्थित समस्त हवनीय पदार्थों का भोक्ता है, जैसे संसार में पेट में वच्चा वाली गर्भिणी स्त्रियों के द्वारा वर्जित अन्न और पानीय भोजन आदि से गर्भ की अच्छी प्रकार से रक्षा करती है, वैसे यज्ञ के पुरोहित और योगियों के द्वारा उसकी अच्छी प्रकार से रक्षा की जाती है। **किंच दिवे दिवे-ऽहन्यहनीड्यः स्तुत्यो वन्द्यश्च कर्मिभिर्योगिभिश्चाध्वरे हृदये च जागृवद्भिर्जागरणशीलवद्भिरप्रमत्तैरित्येतद्धविष्मद्भिराज्यादिमद्भिध्यान-भावनावद्भिश्च मनुष्येभिर्मनुषैरग्निरेतद्वै तत्तदेव प्रकृतं ब्रह्म।। ८।।** और भी प्रतिदिन जागृत अर्थात् प्रमाद से रहित हवन और ध्यान करने वाले कर्मी और योगियों से यज्ञ और हदय में स्तुति और वन्दना के योग्य, यह अग्नि है। वही यह प्रसंग प्राप्त ब्रह्म है।। ८।।

यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति। तं देवाः सर्वे अर्पितास्तदु नात्येति कश्चन। एतद्वै तत्।। ९।।

सूर्यः यतः च उदेति यत्र च गच्दति– सूर्य जहाँ से उदय होता है और जिसमें अस्त होता है। **तं सर्वे देवाः अर्पिताः–** उस समष्टि प्राण में सभी अग्नि आदि देवता अर्पित है (स्थित है)। **तत् उ न अत्येति कश्चन।** कोई उसका अतिक्रमण नहीं करता है। **एतद्वै तत्–** वही यह प्रसंग प्राप्त ब्रह्म है।। ९।।

किंच यतश्च यस्मात्प्राणादुदेत्युत्तिष्ठति सूर्योऽस्तं निम्लोचनं यत्र यस्मिन्नेव च प्राणेऽन्यहनि गच्छति तं प्राणमात्मानं देवा अग्न्या- दयोऽधिदैवं वागादयश्चाध्यात्मं सर्वे विश्वेऽरा इव रथनाभावर्पिताः संप्रवेशिताः स्थितिकाले। और भी जिस प्राण से प्रतिदिन सूर्य का उदय अर्थात् उत्थान होता है और जिसमें सूर्य अस्त अर्थात् निम्लोचन होता है, उस प्राण आत्मा में स्थिति के समय अधिदैविक अग्नि आदि देवता और अध्यात्म वाणी आदि सभी, रथनाभि में अरों के समान अर्पित है अर्थात् प्रविष्ट हैं। **सोऽपि ब्रह्मैव। तदे- तत्सर्वात्मकं ब्रह्म। तदु नात्येति नातीत्य तदात्मकतां तदन्यत्वं गच्छति कश्चन कश्चिदपि। एतद्वै तत्।। ६।।** वह प्राण भी ब्रह्म ही है। वही यह सर्वात्मक ब्रह्म है। उसके स्वरूप का अतिक्रमण करके उससे भिन्नता को कोई जा नहीं सकता अर्थात् प्राप्त नहीं कर सकता है। वही यह प्रसंग प्राप्त ब्रह्म है।। ६।।

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति।। १०।।

यत् एव इह तत् अमुत्र- जो यहाँ भास रहा है, वह वहाँ है अर्थात् वह ब्रह्म है। **यत् अमुत्र तत् अनु इह-** जो वहाँ है अर्थात् उस आत्मा में स्थित है वह पुनः यहाँ भास रहा है। **यः इह नाना इव पश्यति सः मृत्योः मृत्युं आप्नोति-** यहाँ भिन्नता या अनेकता न होते हुए जो यहाँ अनेकता जैसे देखता है, वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त करता है अर्थात् बार-बार मौत के चँगूल में फँसता रहता है।। १०।।

टीका- ब्रह्म सर्वात्मक (सब की आत्मा) है यह कहा गया। उपाधि से अवच्छिन्न चैतन्य जीव संसारि होने से विरुद्ध धर्म वालों का ऐक्य असंभव होने से यह ठीक नहीं है। ऐसी आशंका करके, समाधान देते हैं कि उपाधि के कारण जीवात्मा और परमात्मा में विरुद्ध धर्म है, किन्तु पारमार्थिक स्वभाव की ऐक्य में कुछ भी अनुपयुक्त नहीं है। इस बात को कहते हैं- **यद्ब्रह्मादिस्था- वरान्तेषु वर्तमानं तत्तदुपाधिकत्वादब्रह्मवदवभासमानं संसार्यन्यत्परस्मा-**

द्ब्रह्मण इति मा भूत्कस्यचिदाशङ्केतीदमाह– जो ब्रह्म ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त सभी प्राणियों में अवस्थित है, उस उस उपाधिवाला होने से अब्रह्म जैसा भासित है, वह संसारी है और पर–ब्रह्म से भिन्न है, ऐसी किसी को आशंका न हो, इसलिए श्रुति कहती है– **यदेवेह कार्यकरणोपाधिसमन्वितं संसारधर्मवदवभासमानमविवेकिनां तदेव स्वात्मस्थममुत्र नित्यविज्ञानघनस्वभावं सर्वसंसारधर्मवर्जितं ब्रह्म।** जो यहाँ अविवेकी के लिए कार्यकरण–उपाधि से युक्त (जीवात्मा) संसार के धर्म के समान (संसारी रूप में) भासित होता है, वही अपनी आत्मा में स्थित वहाँ अर्थात् नित्य–विज्ञान–घन स्वभाव वाला समस्त संसार धर्मों से वर्जित ब्रह्म है। **यच्चामुत्रामुष्मिन्नात्मति स्थितं तदेवेह नामरूपकार्यकरणोपाधिमनु विभाव्यमानं नान्यत्।** जो वहाँ अर्थात् उस आत्मामें (परमात्मा में) स्थित (चैतन्य) है वही ही नाम–रूप–कार्य–करण आदि उपाधि का अनुसरण करके (जीव रूप में) भास रहा है, कोई दूसरा नहीं है। **टीका**– अमुष्मिन् अर्थात् संसार के कारण उपाधि में अर्थात् ईश्वर में। **तत्रैवं सत्युपाधिस्वभावभेददृष्टि–लक्षणयाऽविद्यया मोहितः सन्य इह ब्रह्मण्यनानाभूते परस्मादन्योऽहं मत्तोऽन्यत्परं ब्रह्मेति नानेव भिन्नमिव पश्यत्युपलभते स मृत्योर्मरणा–न्मरणं मृत्युं पुनः पुनर्जन्ममरणभावमाप्नोति प्रपिद्यते।** ऐसी स्थिति में उपाधि के स्वभाव और भेददृष्टि लक्षित होने वाली अविद्या से मोहित होता हुआ जो यहाँ अनाना (भेद रहित एक) ब्रह्म में, परमात्मा से मैं भिन्न हूँ और मुझ से भिन्न परं ब्रह्म है, इस प्रकार भिन्न जैसा उपलब्ध करता (जानता) है, वह मरण से मरण को अर्थात् बार– बार जन्म–मरण भाव को प्राप्त करता है। **टीका**– उपाधि का स्वभाव और भेददृष्टि उन दोनों से कारण रूप से लक्षित होता है इस प्रकार उपाधिस्वभावभेददृष्टिलक्षणा। (सत् असत् रूप से निर्वचन के अयोग्य) अनिर्वाच्य अविद्या के बिना अन्तःकरण आदि उपाधि और भेददृष्टि का होना संभव नहीं है, कार्यकारणभाव संवित्संबन्ध का दुर्निरूप होने से। नानेव– नाना इव यहाँ इव शब्द उपमा अर्थवाला है। जैसे स्वप्न में नानात्व के

अभाव होने पर भी नानात्व का अध्यारोप कर सत्यता अभिनिवेश से व्यवहार करता है वैसे जाग्रत में भी नानात्व का अध्यारोप कर सत्यत्व अभिनिवेश से जो व्यवहार करता है, वह निन्दित होने से एकरस ब्रह्म ही मैं हूँ इस प्रकार समझना चाहिए यह अर्थ है। **तस्मात्तथा न पश्येत्। विज्ञानैकरसं नैरन्तर्येणाऽऽकाशवत्परिपूर्णं ब्रह्मै- वाहमस्मीति पश्येदिति वाक्यार्थः।। १०।।** इसलिए वैसे (जीवात्मा और परमात्मा को भेद पूर्वक) न देखें। मैं विज्ञान, एकरस, आकाश के समान निरन्तर परिपूर्ण ब्रह्म हूँ, इस प्रकार देखे। यह वाक्य का अर्थ है।। १०।।

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानाऽस्ति किंचन।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति।। ११।।

मनसा एव इदं आप्तप्यं- मनसे ही यह ब्रह्म प्राप्त करने योग्य है। **इह नाना किंचन न अस्ति-** इस ब्रह्म में नानात्व अर्थात् भेद अणुमात्र नहीं है। **यः इह नाना इव पश्यति-** जो इस ब्रह्म में नाना जैसे देखता है, **सः मृत्योः मृत्युं गच्छति-** वह बार बार मृत्यु को प्राप्त करता है।। ११।।

टीका- ब्रह्म एकरस है तो ज्ञाता और ज्ञेय का विभाग कैसे सिद्ध होगा, ऐसी आशंका करके उत्तर देते हैं कि अज्ञानी के प्रति भेद की कल्पना करके ज्ञाता ज्ञेय विभाग है। इसे कहते हैं- **प्रागेकत्वविज्ञानादाचार्यागम-संस्कृतेन मनसेदं ब्रह्मैकरसमाप्तव्यमात्मैव नान्यदस्तीति।** एकत्व ज्ञान से पूर्व आचार्य और आगम से संस्कृत मन के द्वारा यह एकरस ब्रह्म आत्मा ही है कोई दूसरा नहीं इस प्रकार प्राप्त करने योग्य है। **आप्ते च नानात्वप्रत्युपस्थापि- काया अविद्याया निवृत्तत्वादिह ब्रह्मणि नाना नास्ति किंचनाणुमात्रमपि।** प्राप्त करने के बाद नानात्व को उपस्थापित करने वाली अविद्या की निवृत्ति हो जाने पर इस ब्रह्म में किंचन अर्थात् अणुमात्र भी नाना नहीं है। **यस्तु पुनरविद्यातिमिरदृष्टिं न मुंचतीह ब्रह्मणि नानेव पश्यति स मृत्योर्मृत्युं गच्छत्येव स्वल्पमपि भेदमध्यारोपयन्नित्यर्थः।। ११।।** जो तो फिर अविद्या रूपि अन्धकार से कलुषित दृष्टि का त्याग नहीं करता है

वह इह अर्थात् ब्रह्म में नाना जैसा देखता है। थोड़ा से भी भेद के अध्यारोपण करता हुआ वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त करता है अर्थात् बार बार जन्म-मरण चक्र में घूमता रहता है।। ११।।

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति।
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते। एतद्वै तत्।। १२।।

अंगुष्ठमात्रः पुरुषः आत्मनि मध्ये तिष्ठति- अँगूठा परिमाण वाला पुरुष (जीवात्मा) शरीर के बीच हृदय कमल में रहता है। **भूतभव्यस्य ईशानं (विदित्वा) ततो न विजुगुप्सते-** तीनों काल के शासन कर्ता उस आत्मा को जान कर उस ज्ञान से अपनी आत्मा की रक्ष करना नहीं चाहता है। **एतद्वै तत्-** वही यह प्रसंग प्राप्त ब्रह्म है।। १२।।

टीका- अंगुष्ठ परिमाण वाला जीव का अनुवाद कर ब्रह्मभाव का विधान होने से, जीव विधान करनेवाला ब्रह्मभाव का विरोध होने से, अंगुष्ठ मात्र विवक्षित नहीं है। अतः यह वाक्य ब्रह्म परक है, इसे कहते हैं- **पुनरपि तदेव प्रकृतं ब्रह्माह-** फिर से उसी प्रसंग प्राप्त ब्रह्म का ही कथन करते हैं- **अङ्गुष्ठमात्रोऽङ्गुष्ठपरिमाणः। अङ्गुष्ठपरिमाणं हृदयपु-ण्डरीकं तच्छिद्रवर्त्यन्तःकरणोपाधिरङ्गुष्ठमात्रोऽङ्गुष्ठमात्रवंशपर्वमध्य-वर्त्यम्बरवत्।** अंगुष्ठमात्र अर्थात् अंगूठे के परिमाण वाला। अंगूठे परिमाण वाला हृदय कमल है। बांस के दोनों पर्व (गांठ) के बीच के आकाश के समान उस हृदय कमल के छिद्र (आकाश) में स्थित अन्तःकरण उपाधिवाला (ब्रह्म) अंगूठे परिमाण वाला है। **पुरुषः पूर्ण-मनेन सर्वमिति।** इस(ब्रह्म) से सब कुछ पूर्ण है, इस हेतु से पुरुष है। **मध्य आत्मनि शरीरे तिष्ठति यस्तमान्मानमीशानं भूतभव्यस्य विदित्वा न तत इत्यादि पूर्ववत्।। १२।।** वह आत्मा शरीर के बीच रहता है। जो उस तीन काल के शासनकर्ता को जानता है, उस

ज्ञान से इत्यादि पूर्व के समान है। अर्थात् उस ज्ञान से अपने को किसी से रक्षा करना नहीं चाहता है।। १२।।

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः। ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः। एतद्वै तत्।। १३।।

अंगुष्ठमात्रः पुरुषः अधूमकः ज्योतिः इव– अंगूठे परिमाण वाला पुरुष निर्धूम अग्नि की ज्योति के समान है। **भूतभव्यस्य ईशानः–** वह तीनों काल का शासनकर्ता है। **स एव अद्य स उ श्वः –** वह नित्य ब्रह्म अब सब प्राणियों में विद्यमान और वह कल अर्थात् भविष्य में भी सभी प्राणियों में विद्यमान रहेगा। **एतद्वै तत्–** वही यह प्रसंग प्राप्त ब्रह्म है।। १३।।

किंच अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकोऽधूमकमिति युक्तं ज्योतिपरत्वात्। और भी वह अंगूठे परिमाण वाला पुरुष धुआं रहित ज्योति के समान है। ज्योति परक होने से अधूमक विशेषण उपयुक्त है। **यस्त्वेवं लक्षितो योगिभिर्हृदय ईशानो भूतभव्यस्य स एव नित्यः कूटस्थोऽद्येदानीं प्राणिषु वर्तमानः स उ श्वोऽपि वर्तिष्यते नान्यस्तत्स–मोऽन्यश्च जनिष्यत इत्यर्थः।** इस प्रकार जो योगियों के द्वारा हृदय में लक्षित होता है वह तीनों काल का शासन कर्ता है, वह ही नित्य कूटस्थ अब प्राणियों में विद्यमान है और वह भी भविष्यत में विद्यमान रहेगा। उसके समान दूसरा कोई उत्पन्न नहीं होगा यह अर्थ है। **अनेन नायमस्तीति चैक इत्ययं पक्षो न्यायतोऽप्राप्तोऽपि स्ववचनेन श्रुत्या प्रत्युक्तस्तथा क्षणभङ्गवादश्च।। १३।।** इससे जो शंका थी कि मरने के बाद कुछ कहते नहीं आत्मा नहीं रहता है, यह पक्ष युक्ति से अप्राप्त होने पर भी श्रुति ने अपने शब्दों द्वारा जबाव दिया है, तथा बोद्धों के क्षणभंग–वाद भी निरस्त कर दिया है।। १३।।

यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति।
एवं धर्मान्पृथक्पशंस्तानेवानुविधावति।। १४।।

यथा दुर्गे वृष्टं उदकं पर्वतेषु विधावति– जैसे पर्वत की चोटी पर बरसा हुआ जल पर्वत के नीचे भाग में फैल कर नष्ट हो जाता है, **एवं धर्मान् पृथक् पश्यन् तान् एव अनुविधावति–** इस प्रकार आत्माओं को अलग अलग देखकर जीव उन्हीं को (शरीर भेद को) प्राप्त होता है।। १४।।

पुनरपि भेददर्शनापवादं ब्रह्मण आह– श्रुति फिर से बह्म में भेद दर्शन का अपवाद(निन्दा) बतलाती है– **यथोदकं दुर्गे दुर्गमे देश उच्छ्रिते वृष्टं सिक्तं पर्वतेषु पर्ववत्सु निम्नप्रदेशेषु विधावति विकीर्ण सद्विनश्यति एवं धर्मानात्मनो भिन्नान्पृथक्पश्यन्पृथगेव प्रतिशरीरं पश्यंस्तानेव शरीरभेदानुवर्तिनोऽनुविधावति। शरीरभेदमेव पृथक्पुनः पुनः प्रपिद्यत इत्यर्थः।। १४।।** जैसे दुर्ग अर्थात् दुर्गम ऊँचे चोटी में बरसा जल झरते हुए पर्वतीय नीचे स्थानों में फैल जाता है और फैलते हुए नष्ट हो जाता है, वैसे धर्म अर्थात् आत्माओं को प्रति शरीर पृथक् पृथक् देखता हुआ, उन्हीं शरीर भेद का अनुसरण करते हुए मनुष्य अनुधावन करता है। बार-बार अलग शरीर भेद (अनेक शरीर) को प्राप्त करता है। यह अर्थ है।। १४।।

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम।। १५।।

इति काठकोपनिषदि द्वितीयाध्याये प्रथमवल्ली समाप्ता।। १।।

यथा शुद्धं उदकं शुद्धे आसिक्तं तादृक् एव भवति– जैसे स्वच्छ जल में डाला हुआ स्वच्छ जल, एकरस ही हो जाता है, **हे गौतम! एवं विजानतः मुनेः आत्मा भवति–** हे गौतम! वैसे एकत्व को जानने वाले मुनि की आत्मा ब्रह्म के साथ एकरस हो जाता है।। १५।।

यस्य पुनर्विद्यावतो विध्वस्तोपाधिकृतभेददर्शनस्य विशुद्धविज्ञान-घनैकरसमद्वयमात्मानं पश्यतो विजानतो मुनेर्मननशीलस्याऽऽत्मस्वरूपं कथं भवति– भेददर्शी से विपरीत फिर जिस विद्वान का उपाधि से

होने वाला भेद-ज्ञान नष्ट हो गया है, जो विशुद्ध विज्ञानघन एकरस अद्वैत आत्मा को देखता है, ऐसे जाननेवाला मननशील मुनि का आत्मस्वरूप कैसे होता है- **यथोदकं शुद्धे प्रसन्ने शुद्धं प्रसन्नमासिक्तं प्रक्षिप्तमेकरसमेव नान्यथा तादृगेव भवत्यात्माऽप्येवमेव भवत्येकत्वं विजानतो मुनेर्मननशीलस्य हे गौतम।** जैसे शुद्ध अर्थात् स्वच्छ जल में स्वच्छ जल डाला हुआ एकरस हो जाता है, अन्य भाव को प्राप्त नहीं होता है, वैसे ही आत्मा के स्वरूप को जाननेवाले मननशील मुनि की आत्मा ब्रह्म में एकरस हो जाता है। **तस्मात्कुतार्किकभेद-दृष्टिं नास्तिककुदृष्टिं चोज्झित्वा मातृपितृसहस्रेभ्योऽपि हितैषिणा वेदे-नोपदिष्टमात्मैकत्वदर्शनं शान्तदर्पैरादरणीयमित्यर्थः।। १५।।** इसलिए कुतर्कियों की भेददृष्टि और नास्तिकों की कुदृष्टि को त्याग कर हजारों माता पिता से भी बढकर हितैषी वेद के द्वारा उपदिष्ट आत्मा का एकत्व-ज्ञान का निरभिमान हो कर आदर करना चाहिए। यह अर्थ है।। १५।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमदाचार्य-श्रीशंकरभगवतः कृतौ काठकोपनिषद्भाष्ये द्वितीयाध्याये प्रथमवल्लीभाष्यं समाप्तम्।। १।।

पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः। अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते। एतद्वै तत्।। १।।

अजस्य अवक्रचेतसः एकादशद्वार पुरम्- जन्म आदि विक्रिया रहित, एकरूप विज्ञान वाले, एकादश द्वार वाला यह शरीर रूप निवास-स्थान है, **अनुष्ठाय न शोचति-** जिसका यह पुर है उसका ध्यान कर शोक नहीं करता है। **विमुक्तः च विमुच्यते-** ध्यान से ज्ञान प्राप्त कर मुक्त हुए फिर दुबारा शरीर ग्रहण नहीं करता है। **एतत् वै तत्-** वही यह प्रसंग प्राप्त ब्रह्म है।। १।।

टीका - पुनरुक्ति का परिहार करते हुए संबन्ध कहते हैं- **पुनरपि प्रकारान्तरेण ब्रह्मतत्त्वनिर्धारणार्थोऽयमारम्भो दुर्विज्ञेयत्वाद्ब्रह्मणः पुरं**

पुरमिव पुरम्। फिर से दुर्विज्ञेय होने से अन्य प्रकार से ब्रह्मतत्त्व के निश्चय कराने के लिए यह दूसरी वल्ली का आरंभ होता है, ब्रह्म का पुर (नगर, घर, निवासस्थान) पुर के समान होने से पुर कहा गया है। टीका– फिर से भी पथ्य (कल्याणकारी वचन) कहना चाहिए, इस न्यायसे दूसरे उपायों से ब्रह्म समझाया जाता है। उपायों में भिन्नता होती है किन्तु उपेय में भेद नहीं होता है। **द्वारपालाधिष्ठात्राद्यनेकपुरोपकरण–संपत्तिदर्शनाच्छरीरं पुरम्।** अधिष्ठाता (देखभाल करनेवाला) द्वारपाल आदि अनेक नगर उपकरण (साधन) देखे जाने से शरीर ही पुर अर्थात् नगरी है। **पुरं च सोपकरणं स्वात्मनाऽसंहतस्वतन्त्रस्वाम्यर्थं दृष्टम्।** उपकरणवाला पुर अर्थात् नगरी अपने से असंहत स्वतन्त्र स्वामी के लिए होता है, यह देखा गया है। टीका– पुर अर्थात् शरीर से असंहत होना अर्थात् शरीर के उपचय अपचय से (बढ़ने घटने से) उसका उपचय अपचय न होना। उसकी सत्ता की प्रतीति के बिना सत्ता की प्रतीति वाला होना स्वतत्रन्ता है ? **तथेदं पुरसामान्यादनेकोपकरणसंहतं शरीरं स्वात्मनाऽसंहतराजस्थानीयस्वाम्यर्थं भवितुमर्हति।** वैसे अनेक उपकरणों से युक्त नगरी के समान यह शरीर अपनी आत्मा से असंहत राजा स्थानीय स्वामी के लिए होना चाहिए। **तच्चेदं शरीराख्यं पुरमेकादशद्वारमेकादशद्वाराण्यस्य सप्त शीर्षण्यानि नाभ्या सहावाँचि त्रीणि शिरस्येकं तैरेकादशद्वारं पुरं कस्याजस्य जन्मादि–विक्रियारहितस्याऽऽत्मनो राजस्थानीयस्य पुरधर्मविलक्षणस्य।** वह इस शरीर नामवाला पुर (नगरी) एकादश द्वारवाला है। एकादश द्वार है इसकी एकादश द्वार। सात शिर पर (दो आँख के गोलक, दो कानों के और दो नासा के छिद्र, एक मुख का छिद्र), नाभि के साथ तीन नीचे के द्वार (नाभि, मल और मूत्र निष्कासन के दो द्वार), शिर पर एक (ब्रह्मरन्ध्र), उनसे एकादश द्वारवाला पुर। किसका यह पुर है? जन्म आदि विक्रिया से रहित, राजा स्थानीय, पुर के धर्म से विलक्षण आत्मा का। **अवक्रचेतसोऽवक्रमकुटिलमादित्यप्रकाशवन्नित्य–मेवावस्थितमेकरूपं चेतो विज्ञानमस्येत्यवक्रचेतास्तस्यावक्रचेतसो राज–**

स्थानीयस्य ब्रह्मणः। अवक्र अर्थात् कुटिलता से रहित सूर्य के प्रकाश के समान नित्य ही अवस्थित एकरूप चेत अर्थात् विज्ञान हे इसकी इससे वह अवक्रचेता है उस अवक्रचेत वाला राजा स्थानीय ब्रह्म का। **यस्येदं पुरं तं परमेश्वरं पुरस्वामिनमनुष्ठाय ध्यात्वा। ध्यानं हि तस्यानुष्ठानं सम्यविज्ञानपूर्वकम्।** जिसका यह पुर है उस पुर के निवासी परमेश्वर का अनुष्ठान कर अर्थात् ध्यान कर। यथार्थ ज्ञान पूर्वक ध्यान ही उसका अनुष्ठान है। **तं सर्वैषणाविनिर्मुक्तः सन्समं सर्वभूतस्थं ध्यात्वा न शोचति।** समस्त एषणाओं से मुक्त होते हुए समान रूप से सभी भूतों में अवस्थित उस का ध्यान कर के साधक शोक नहीं करता। **तद्विज्ञानादभयप्राप्तेः शोकावसराभावात्कुतो भयेक्षा।** क्योंकि उस के ज्ञान से अभय की प्राप्ति होने से शोक के अवसर का अभाव होने से भय का दर्शन भी कैसे हो सकता है। **इहैवाविद्याकृतकामकर्मबन्धनैर्विमुक्तो भवति। विमुक्तश्च सन्विमुच्यते पुनः शरीरं न गृह्णातीत्यर्थः।। १।।** जीते जी अविद्या से होने वाला काम-कर्म बन्धनों से मुक्त हो जाता है। मुक्त होता हुआ मुक्त हो जाता है अर्थात् शरीर छोड़ने के बाद दुबारा शरीर ग्रहण नहीं करता।। १।।

ह्ँसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथि-
र्दुरोणसत्। नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत्।। २।।

हंसः शुचिषत् वसुः अन्तरिक्षसत् होता वेदिषत् अतिथिः दुरोणसत् नृषत् वरसत् ऋतसत् व्योमसत् अब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत्- वह ब्रह्म हंस, शुचिषत्, वसु, अन्तरिक्षसत्, होता, वेदिषत्, अतिथि, दुरोणसत्, नृषत्, वरसत्, ऋतसत्, व्योमसत्, अब्जा, गोजा, ऋतजा, अद्रिजा, ऋत और बृहत् है। इनका अर्थ भाष्य में स्पष्ट किया गया है।। २।।

स तु नैकशरीरपुरवर्त्येवाऽऽत्मा किं तर्हि सर्वपुरवर्ती। कथम्। वह आत्मा तो एक शरीर रूप पुर निवासी नहीं है, तो क्या है– वह समस्त शरीर में रहता है। कैसे ? **हंसो हन्ति गच्छतीति शुचिषच्छुचौ दिव्यादित्यात्मना सीदतीति।** वह चलता है इससे हंस है। वह शुद्ध रूप में दिव्य आदित्य रूप में रहता है इससे शुचिषत् है। **वसुर्वासयति सर्वानिति। वाय्वात्मनाऽन्तरिक्षे सीदतीत्यन्तरिक्षसत्।** सब को बसाता है (रहने के लिए स्थान देता है) इससे वसु है। वायु के रूप में अन्तरिक्ष में रहने से अन्तरिक्षसत् है। **होताऽग्निः 'अग्निर्वै होतेति श्रुतेः'** – अग्नि ही होता है इस प्रकार श्रुति से वह होता अर्थात् अग्नि है। **वेद्यां पृथिव्यां सीदतीति वेदिषत् 'इयं वेदिः परोऽन्तः पृथिव्याः' (ऋ.सं.२.३.२०) इत्यादिमन्त्रवर्णात्।** 'पृथिवी का पर स्वभाव (दूसरे स्वरूप) वाली यह वेदी है' इस ऋग्वेद मंत्र से वेदी अर्थात् पृथिवी में रहने से वह वेदिषत् है। टीका– जो यज्ञ में प्रसिद्ध वेदी है वह पृथिवी का परोऽन्त अर्थात् पर स्वभाव (अपर स्वरूप) है, इस प्रकार वेदी को पृथिवी स्वभाव वाला कहे जाने से पृथिवी वेदी शब्द वाच्य होती है। **अतिथिः सोमः सन्दुरोणे कलशे सीदतीति दुरोणसत्। ब्राह्मणोऽतिथिरूपेण वा दुरोणेषु गृहेषु सीदतीति।** वह सोम रूप में अतिथि होकर दुरोण अर्थात् कलश में रहता है इससे दुरोणसत् है। अथवा ब्राह्मण अतिथि रूप में दुरोण अर्थात् गृह में रहता है, इससे दुरोणसत्। **नृषन्नृषु मनुष्येषु सीदतीति नृषत्। वरसद्वरेषु देवेषु सीदतीति। ऋतसदृतं सत्यं यज्ञो वा तस्मिन्सीदतीति।** वह मनुष्यों में रहता है इससे नृषत् है। वह वर (श्रेष्ठ) देवताओं में रहता है इससे वरसत् है। ऋत अर्थात् सत्य अथवा यज्ञ, उसमें रहने से ऋतसत् है। **व्योमसद्व्योम्न्याकाशे सीदतीति व्योमसत्।** व्योम्नि आकाश में रहता है इससे व्योमसत् है। **अब्जा अप्सु शङ्खशुक्ति–मकरादिरूपेण जायते इति।** जल में शंख शुक्ति (सीप) मकर (मगर) आदि रूप से उत्पन्न होता है इससे अब्जा है। **गोजा गवि पृथिव्यां व्रीहियवादिरूपेण जायत इति।** गौ अर्थात् पृथिवी में व्रीहि यव आदि

रूप से उत्पन्न होता है इससे गोजा है। **ऋतजा यज्ञाङ्गरूपेण जायते इति।** ऋत अर्थात् यज्ञ के अंग रूप से उत्पन्न होता है इससे ऋतजा है। **अद्रिजाः पर्वतभ्यो नद्यादिरूपेण जायते इति।** अद्रि अर्थात् पर्वतों से नदी आदि के रूप से उत्पन्न होता है इससे अद्रिजा है। **सर्वात्माऽपि सन्नृतमवितथस्वभाव एव।** सर्वात्मा होते हुए भी ऋत अर्थात् अवितथ (सच्चा) स्वभाव वाला है। अर्थात् स्वरूप से न बदलने वाला स्वभाव का है। **बृहन्महान्सर्वकारणत्वात्।** सब का कारण होने से बृहत् अर्थात् महान् है। टीका- यह आदित्य हंस शुचिषत् इस प्रकार ब्राह्मण में आदित्य को मंत्र के अर्थ रूप से कहा गया है। तो उससे विरुद्ध यह व्याख्या (आत्मा के रूप से) कैसी की गयी इस आशंका पर कहते हैं- **यदाऽप्यादित्य एव मन्त्रेणोच्यते तदाऽप्यस्याऽऽत्मस्वरूप-त्वमादित्यस्याङ्गीकृतत्वाद्ब्राह्मणव्याख्यानेऽप्यविरोधः।** जब हंस और शुचिषत् शब्द से मन्त्र के द्वारा आदित्य कहा जाता है, तब भी इस आदित्य को आत्मा के रूप में अंगीकार किया गया है, इससे ब्राह्मण व्याख्यान से विरोध नहीं है। टीका- 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुष-श्चेति' ' जगत् अर्थात् जंगम और तस्थुष अर्थात् स्थावर इन दोनों की आत्मा सूर्य है' इस मंत्र से मंडल उपलक्षित चैतन्य स्वरूप का सर्वात्मकता इष्ट है। यह अर्थ है। **सर्वव्याप्येक एवाऽऽत्मा जगतो नाऽऽत्मभेद इति मन्त्रार्थः।। २।।** सारा संसार की एक ही सर्वव्यापी आत्मा है, आत्मा में भेद नहीं है, यह इस मंत्र का अर्थ है।। २।।

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति।
मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते।। ३।।

प्राणं ऊर्ध्वं उन्नयति- जो प्राणवायु को ऊपर की ओर ले जाता है, **अपानं प्रत्यक् अस्यति-** और अपान वायु को नीचे की ओर ढकेलता है, **मध्ये आसीनं वामनं -** बीच में स्थित उस वामन अर्थात् भजनीय आत्मा की, **विश्वे देवा उपासते-** सारे इन्द्रिया उपासना करते हैं अर्थात् उस आत्मा के लिए अपने-अपने कार्य में लगे रहते हैं।। ३।।

टीका- 'येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये' इस प्रकार जो पहले जानने की इच्छा, मूल प्रश्न के रूप में उठाया गया था, वह निर्मूल(बेबुनियाद) है, इसी बात को दिखाने के लिए देह से अतिरिक्त आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं- **आत्मन स्वरूपाधिगमे लिङ्गमुच्यते।** आत्मा के स्वरूप के ज्ञान में हेतु कहते हैं- **ऊर्ध्वं हृदयात्प्राणं प्राणवृत्तिं वायुमुन्नयत्यूर्ध्वं गमयति। तथाऽपानं प्रत्यगधोऽस्यति क्षिपति य इति वाक्यशेषः।** हृदय से ऊपर की ओर प्राण अर्थात् प्राणवृत्ति वायु को ऊपर ले जाता है। तथा अपान वायु को नीचे ढकेलता है जो। यः यह वाक्यशेष है अर्थात् जो इतना जोड़ कर अर्थ लगाना है। **तं मध्ये हृदयपुण्डरिकाकाश आसीनं बुद्धावभिव्यक्तविज्ञानप्रकाशं वामनं संभजनीयं विश्वे सर्वे देवाश्चक्षुरादयः प्राणा रूपादिविज्ञानं बलिमुपाहरन्तो विश इव राजान-मुपासते तादर्थ्येनानुपरतव्यापारा भवन्तीत्यर्थः। यदर्था यत्प्रयुक्ताश्च सर्वे वायुकरणव्यापाराः सोऽन्यः सिद्ध इति वाक्यार्थः।। ३।।** मध्य में अर्थात् हृदय कमल आकाश में स्थित, बुद्धि में अभिव्यक्त विज्ञान प्रकाश रूप वामन को अर्थात् भजन के योग्य आत्मा की सारे देवता अर्थात् चक्षु आदि प्राण, जैसे प्रजा राजा को उपहार देते हैं वैसे रूप, रस आदि उपहार अर्पण करते हुए उपासना करते हैं। अर्थात् उसके लिए बिना रुके व्यापार करते हैं। जिसके लिए तथा जिससे प्रयुक्त सारे वायु तथा इन्द्रियों का व्यापार है, वह इनसे अन्य सिद्ध है, यह वाक्य का अर्थ है।। ३।। टीका- समस्त प्राण और करणव्यापार चैतन्य के लिए और चैतन्य से प्रयुक्त होने योग्य है, जड़ चेष्टा होने से, रथ चेष्टा के समान यह तर्क है।। ३।।

अस्य विस्रंसमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः।
देहाद्विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते। एतद्वै तत्।। ४।।

अस्य विस्रंसमानस्य देहात् विमुच्यमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः अत्र किं परिशिष्यते - इस भ्रष्ट हुए अर्थात् देह से निकले हुए शरीर में स्थित देही(आत्मा) का यहाँ क्या बाकी रह जाता है? **एतत् वै तत्-** वही यह प्रसंग प्राप्त ब्रह्म है।। ४।।

किंच अस्य शरीरस्थस्याऽत्मनो विस्रंसमानस्यावस्रंसमानस्य भ्रंशमानस्य देहिनो देहवतः। और भी इस शरीर में स्थित विस्रसमान अर्थात् अलग हुए देह-बुद्धि वाले आत्मा के, **विस्रंसनशब्दार्थमाह देहाद्विमुच्यमानस्येति।** विस्रंसन शब्द का अर्थ स्वयं श्रुति बतलाती है देह से अलग हुए के, **किमत्र परिशिष्यते प्राणादिकलापे न किंचन परिशिष्यतेऽत्र देहे, पुरस्वामिनो विद्रवण इव पुरवासिनां यस्याऽऽत्म-नोऽपगमे क्षणमात्रात्कार्यकरणकलापरूपं सर्वमिदं हतबलं विध्वस्तं भवति विनष्टं भवति सोऽन्यः सिद्धः।। ४।।** प्राण इन्द्रिय आदि समूह में क्या बच जाता है? अर्थात् इस देह में कुछ भी शेष नहीं रहता। जैसे नगरस्वामी के निकल जाने पर नगरवासियों की दयनीय स्थिति हो जाती है। जिस आत्मा के निकल जाने पर एक क्षण में कार्य-करण समूह रूप यह सब बलहीन होकर विध्वस्त हो जाते हैं वह आत्मा शरीर आदि से अन्य सिद्ध होता है।। ४।। **टीका**- शरीर चेतन का शेष है, उसके अलग होने से भोग के योग्य न होने से, राजा के नगर के समान यह तर्क है। (चेतनशेष अर्थात् चेतन आश्रित है क्योंकि अंग अंगी के आश्रित होता है)।। ४।।

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन।
इतरेण तु जीवति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ।। ५।।

कश्चन मर्त्यः न प्राणेन न अपानेन जीवति- कोई भी मरणशील मनुष्य न प्राण से न अपान से जीवित रहता है। **इतरेण तु जीवति-** इनसे भिन्न किसी (चैतन्य) से जीवित रहता है। **यस्मिन् एतौ उपाश्रितौ-** जिस (चैतन्य) में ये दोनों प्राण अपान आश्रित हैं।। ५।।

टीका- अन्यथा सिद्धि की शंका करते हैं- **स्यान्मतं प्राणापानाद्य-पगमादेवेदं विध्वस्तं भवति न तु तद्व्यतिरिक्तात्मापगमात्प्राणादिभिरेव हि मर्त्यो जीवतीति।** प्राण अपान आदि के निकल जाने पर यह शरीर नष्ट हो जाता है, किन्तु उनसे अलग आत्मा के निकल जाने पर नहीं। क्योंकि प्राण आदि से मनुष्य जीवित रहता है। इस प्रकार

क्यों न माना जाए ? **नैतदस्ति। न प्राणेन नापानेन चक्षुरादिना वा मर्त्यो मनुष्यो देहवान्कश्चन जीवति न कोऽपि जीवति। न ह्येषां परार्थानां संहत्यकारित्वाज्जीवनहेतुत्वमुपपद्यते।** यह बात नहीं। कोई भी मर्त्य अर्थात् मनुष्य न प्राण से न अपान से या अन्य चक्षु आदि इन्द्रियों से जीवित रहता है। ये सब संहत (मिले हुए) होने से दूसरे के लिए होने से जीवन हेतुता उचित नहीं है।

टीका- (जीव प्राणधारणात्) जीव धातु प्राणधारण के अर्थ वाला कहा गया है, शरीर का जीवित रहना अर्थात् प्राणधारण करना, प्राण के साथ शरीर का संयोग ही प्राण का धारण है। जैसे वरतन में दही का धारण होता है। क्योंकि वहाँ प्राण शरीर धारण में [1]हेतु है। तो प्राण आदि का जीवन में हेतुता संभव नहीं है, यह कैसे कहते हो, इस पर कहते हैं- **स्वार्थेनासंहतेन परेण केनाचिदप्रयुक्तं संहतानामवस्थानं न दृष्टं गृहादीनां लोके, तथा प्राणादीनामपि संहतत्वाद्भवितुमर्हति।** अपने लिए असंहत दुसरे किसी से अप्रयुक्त संहत गृह आदि का अवस्थान संसार में देखा नहीं गया है, वैसे संहत होने सेप्राण आदियों भी होना चाहिए। (संहतानां परार्थ्यत्वात् आनर्थक्यं अतदर्थानाम्)

१. क्योंकि वह संयोग का आश्रय है। (क्योंकि प्रतियोगिता संबन्ध के द्वारा वह संयोग का आश्रय है। अर्थात् संयोग के प्रतियोगी होने से। क्योंकि प्रतियोगी निरूपक होता है) भूतले घटो नास्ति अर्थात् भूतल में घट का अभाव है। इसे न्यायकी भाषा में कहते है घट प्रतियोगिक भूतल अनुयोगिक अभाव। यह नियम है कि यस्य अभावः स तस्य प्रतियोगी, यस्मिन् अभाव स तस्य अभावस्य अनुयोगी।

टीका- कादाचित्क (कदाचित् कभी कभी होने वाला आकस्मिक) प्राण और शरीर के संयोग का स्वभाव से अनुपपन्न होने से और संघात दूसरे द्वारा प्रयुक्त होते हुए संसार में देखे जाने से किसी दुसरे संघात के प्रयोजक (आत्मा) के द्वारा यह जीवित रहता है।

अत इतरेणैव संहतप्राणादिविलक्षणेन तु सर्वे संहताः सन्तो जीवन्ति प्राणान्धारयन्ति। इस लिए संहत प्राण आदि से विलक्षण दुसरे से ही सब संहत होकर जीवित रहते हैं अर्थात् प्राण का धारण करते हैं। **यस्मिन्संहतविलक्षण आत्मनि सति परस्मिन्नेतौ**

प्राणापानो चक्षुरादिभिः संहतावुपाश्रितौ, यस्यासंहतस्यार्थे प्राणापानादिः स्वव्यापारं कुर्वन्वर्तते संहतः सन्स ततोऽन्यः सिद्ध इत्यभिप्रायः।। ५।। संहत से विलक्षण जिस परम-आत्मा के होते हुए चक्षु आदि के साथ प्राण और अपान संहत हैं अर्थात् आश्रित हें, जिस असंहत आत्मा के लिए प्राण अपान आदि संहत होकर अपने-अपने व्यापार करते हुए रहते हैं, वह उनसे अन्य है यह सिद्ध हुआ। यह अभिप्राय है।। ५।।

हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम्।
यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम।। ६।।

हन्त ते इदं गुह्यं सनातनं ब्रह्म प्रवक्ष्यामि- चलो मैं तुझे इस गोपनीय सनातन बह्म का कथन करूँगा। **च गौतम मरणं प्राप्य आत्मा यथा भवति (तत् प्रवक्ष्यामि)-** और हे गौतम आत्मा मरण को प्राप्त कर जैसी गति को प्राप्त करता है वह भी तुझे कहूँगा।। ६।।

हन्तेदानीं पुनरपि ते तुभ्यमिदं गुह्यं गोप्यं ब्रह्म सनातनं चिरंतनं प्रवक्ष्यामि। हन्त अब फिर से भी तुझे इस गोपनीय सनातन अर्थात् चिरंतन ब्रह्म का उपदेश करूँगा। **यद्विज्ञानात्सर्वसंसारोपरमो भवति, अविज्ञानाच्च यस्य मरणं प्राप्य यथाऽऽत्मा भवति यथा संसरति तथा श्रृणु हे गौतम।। ६।।** जिसके ज्ञान से समस्त संसार का उपरम (अभाव) हो जाता है। जिसके अज्ञान से मृत्यु को प्राप्त कर आत्मा जिस अवस्था को प्राप्त होता है, अर्थात् संसार को प्राप्त होता है, उसे हे गौतम सुनो।। ६।।

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्।। ७।।

यथा कर्म यथा श्रुतम्- जैसा कर्म हे और जैसी उपासना है उसके अनुरूप **अन्ये देहिनः शरीरत्वाय योनिं प्रपद्यन्ते-** दुसरे देहधारी शरीर प्राप्त करने के लिए योनि में प्रवेश करते हैं अर्थात्

मनुष्य आदि शरीर प्राप्त करते हैं। **अन्ये स्थाणुं अनुसंयन्ति-** दूसरे स्थाणु अर्थात् वृक्ष आदि योनि प्राप्त करते हैं।। ७।।

योनिं योनिद्वारं शुक्रबीजसमन्विताः सन्तोऽन्ये केचिदविद्यावन्तो मूढाः प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय शरीरग्रहणार्थं देहिनो देहवन्तः, योनिं प्रविशन्तीत्यर्थः। दूसरे अर्थात् कुछ अविद्या वाले (अज्ञानी) मूर्ख देहधारी (देहाभिमानी) शरीर ग्रहण के लिए शुक्र और बीज से समन्वित होकर योनिद्वार को प्राप्त होते हैं अर्थात् योनि में प्रवेश करते हैं। **स्थाणुं वृक्षादिस्थावरभावमन्येऽत्यन्ताधमा मरणं प्राप्यानुसंय-न्त्यनुगच्छन्ति।** दूसरे अत्यन्त अधम मरण को प्राप्त कर स्थाणु अर्थात् वृक्ष आदि स्थावर भाव को प्राप्त होते हैं। **यथाकर्म यद्यस्य कर्म तद्यथाकर्म यैर्यादृशं कर्मेह जन्मनि कृतं तद्वशेनेत्येतत्। तथा च यथाश्रुतं यादृशं च विज्ञानमुपार्जितं तदनुरूपमेव शरीरं प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः। 'यथाप्रज्ञं हि संभवाः' (ऐ.आ.२.३.२) इति श्रुत्यन्तरात्।। ७।।** जो जिसका कर्म है वह यथाकर्म अर्थात् जिनसे जैसा कर्म इस जन्म में किया गया है, उस कर्म के वशीभूत होकर यह अर्थ है। और भी यथाश्रुत अर्थात् जैसा विज्ञान (ज्ञान) अर्जन किया है अर्थात् उसकी जैसी बुद्धि है या उपासना है। उसके अनुरूप ही शरीर प्राप्त करता है, यह अर्थ है। दूसरी ऐतरेय आरण्यक श्रुति में भी कहा है 'बुद्धि के अनुसार उत्पत्ति होती है'।। ७।। **यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः।।**

य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः। तदेव शुक्रं तदब्रह्म तदेवामृतमुच्यते। तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन। एतद्वै तत्।। ८।।

यः एषः पुरुषः सुप्तेषु कामं कामं निर्मिमाणः जागर्ति- इन्दिय आदि के सो जाने पर जो यह पुरुष इच्छित स्त्री आदि पदार्थों का निर्माण करते हुए जाग्रत रहता है, **तत् एव शुक्रं तत् ब्रह्म तत् एव अमृतं उच्यते-** वह ही शुद्ध ब्रह्म है, वह अमृत अर्थात् अविनाशी

है। **तस्मिन् सर्वे लोकाः श्रिताः–** उसमें सारे पृथिवी आदि लोक आश्रित है। **तत् उ न कश्चन अत्येति।** उसका कोई भी अतिक्रमण नहीं करता है। **एतत् वै तत्–** वही यह प्रसंग प्राप्त ब्रह्म है।। ८।।

यत्प्रतिज्ञातं गुह्यं ब्रह्म वक्ष्यामीति तदाह– गुह्म ब्रह्म तुझे कहूँगा ऐसी जो प्रतिज्ञा की थी उसे कहते हैं– **य एष सुप्तेषु प्राणादिषु जागर्ति न स्वपिति। कथम्। कामं कामं तं तमभिप्रेतं स्त्र्याद्यर्थमविद्यया निर्मिमाणो निष्पादयञ्जागर्ति पुरुषो यस्तदेव शुक्रं शुभ्रं शुद्धं तद्ब्रह्म नान्यद्गुह्यं ब्रह्मास्ति।** प्राण आदि अर्थात् इन्द्रिय आदि के सो जाने पर, जो यह जागता रहता है, अर्थात् जो सोता नहीं। कैसे? काम्य अर्थात् अभिष्ट उन उन स्त्री आदि पदार्थों को अविद्या से निर्माण करते हुए जो पुरुष (आत्मा) जागता रहता है, वह ही शुक्र अर्थात् शुद्ध, वह ब्रह्म है, दूसरा कोई उससे इतर ब्रह्म नहीं है। **तदेवामृत–मविनाश्युच्यते सर्वशास्त्रेषु।** वह अमृत अर्थात् अविनाशी है, ऐसे सभी शास्त्रों में कहा गया है। **किंच पृथिव्यादयो लोकास्तस्मिन्नेव सर्वे ब्रह्मण्याश्रिताः सर्वलोककारणत्वात्तस्य। तदु नात्येति कश्चनेत्यादि पुर्ववदेव।। ८।।** और भी पृथिवी आदि समस्त लोक उस ब्रह्म में आश्रित है, क्योंकि वह समस्त लोकों का कारण है। कोई उसका अतिक्रमण नहीं करता इसकी व्याख्या पहले जैसे है।। ८।।

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च।। ६।।

यथा भुवनं प्रविष्टः एकः अग्निः रूपं रूपं प्रतिरूपः बभूव– जैसे इस लोक में प्रवेश करके एक ही अग्नि काष्ठ आदि इन्धन के अनुरूप अनेक रूप वाला हो जाता है। **तथा एकः सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपः बहिः च–** वैसे एक ही समस्त प्राणियों में स्थित अन्तरात्मा मनुष्य आदि शरीर भेद से अनेक रूप हो जाता है। और वह उनसे बाहर भी व्याप्त है।। ६।।

टीका– जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च। पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चेव।। (सां.का.) प्रत्येक शरीर में जन्म मरण एवं अन्तःबाह्य

करणों की पृथक् व्यवस्था रहने से उन उन कार्यों के प्रति संसार के सारे प्राणियों की एक साथ प्रवृत्ति न होने से तथा प्रत्येक शरीरधारी में तीनों गुणों की विलक्षणता दिखाई पड़ने से पुरुष अनेक है यह सिद्ध होता है। इस प्रकार अनेक तार्किक बुद्धि से विरोध होने से सभी शरीरों में एक ही आत्मा है, इस पर चित्त की स्थिरता संभव नहीं है, इस प्रकार आशंका करके, उत्तर देते हैं कि अगर आप औपाधिक भेद मानते हो तो सिद्धसाधन दोष होगा अर्थात् जिसे हम स्वीकार करते हैं उसे तुम भी मानते हो, अगर स्वाभाविक भेद मानोगे तो अनैकान्तिक दोष होगा, इस बात को दिखाने के लिए कहते हैं- **अनेकतार्किककुबुद्धिविचालितान्तःकरणानां प्रमाणोपपन्नमप्या- त्मैकत्वविज्ञानमसकृदुच्यमानमप्यनृजुबुद्धिनां ब्राह्मणानां चेतसि नाऽऽधीयत इति तत्प्रतिपादन आदरवती पुनः पुनराह श्रुतिः-** प्रमाणों से उपपन्न (प्राप्त) आत्मा का एकत्व विज्ञान बार बार कहे जाने पर भी, अनेक तार्किकों की कुबुद्धि से विचलित अन्तःकरणों वाले, कुटिल बुद्धि वाले ब्राह्मणों की बुद्धि में बैठती नहीं, इससे उसके प्रतिपादन में आदर रखती (प्रतिपादन की इच्छा से) श्रुति बार बार कहती है- **अग्निर्यथैक एव प्रकाशात्मा सन्भुवनं भवन्त्यस्मिन्भूतानीति भुवनमयं लोकस्तमिमं प्रविष्टोऽनुप्रविष्टः। रूपं रूपं प्रति दार्वादिदाह्य- भेदं प्रतीत्यर्थः। प्रतिरूपस्तत्र तत्र प्रतिरूपवान्दाह्यभेदेन बहुविधो बभूव।** जैसे प्रकाश स्वरूप होता हुआ एक ही अग्नि भुवन अर्थात् इसमें भूत (प्राणि) उत्पन्न होते हैं इसलिए इसे भुवन कहा गया है, इस लोक में प्रविष्ट हुआ, लकड़ी आदि दाह्य पदार्थों के भेद से अनेक रूप में अनेक प्रकार से दीखता है। टीका- उपाधि के समान चार कोण वाले लकड़ी में उस रूप वाली बह्नि लक्षित होता है। **एक एव तथा सर्वभूतान्तरात्मा सर्वेषां भूतानामभ्यन्तर आत्माऽतिसूक्ष्मत्वाद्दार्वा- दिष्विव सर्वदेहं प्रति प्रविष्टत्वात्प्रतिरूपो बभूव बहिश्च स्वेनाविकृतेन रूपेणाऽऽकाशवत्॥ ९॥** वैसे समस्त प्राणियों की अन्तरात्मा एक होते हुए अत्यन्त सूक्ष्म होने से लकड़ी आदि के समान समस्त देह के भेद से प्रविष्ट होने से उन उन देह आदि रूपवाला हुआ है। और वह आकाश के समान अपने अविकृत स्वरूप से बाहर भी

विद्यमान है।। ६।।

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतात्मरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च।।
१०।।

यथा भुवनं प्रविष्टः एकः वायुः रूपं रूपं प्रतिरूपः बभूव- जैसे प्राण रूप से देह में प्रविष्ट एक ही वायु अनेक रूप वाला हो जाता है, **तथा एकः सर्वभूतात्मरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपः बहिश्च-** वैसे समस्त प्राणियों में एक ही अन्तरात्मा एक एक शरीर के स्वरूप के अनुरूप हो जाता है और अपने अविकृत स्वरूप में बाहर भी विद्यमान है।। १०।।

तथाऽन्यो दृष्टान्तः- वायुर्यथैक इत्यादि। प्राणात्मना देहेष्वनु-प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूवेत्यादि समानम्।। १०।। वैसे दूसरा दृष्टान्त है- वायु इत्यादि। प्राण रूप से वायु शरीरों में प्रविष्ट होकर उन उन शरीर के प्रति रूप वाला हो रहा है आदि सब पूर्व के समान अर्थ है। (वैसे संपूर्ण प्राणियों में एक ही अन्तरात्मा शरीर भेद से अनेक रूप में प्रतीत होता है।)।। १०।।

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः।। ११।।

यथा सर्वलोकस्य चक्षुः सूर्यः चाक्षुषैः बाह्यदोषैः न लिप्यते- जैसे समस्त लोक के चक्षु होता हुआ सूर्य चक्षु में होने वाले दोषों से लेपायमान नहीं होता, **तथा एकः सर्वभूतान्तरात्मा लोकदुःखेन न लिप्यते-** वैसे समस्त प्राणियों में एक अन्तरात्मा लोगों के दुःख से लेपायमान नहीं होता है। **बाह्यः-** क्योंकि वह उन से बाहर अर्थात् अलग है।। ११।।

सूर्यो यथा चक्षुष आलोकेनोपकारं कुर्वन्मूत्रपुरीषाद्यशुचिप्रका-शनेन तद्दर्शिनः सर्वलोकस्य चक्षुरपि सन्न लिप्यते चाक्षुषैरशुच्यादि-

दर्शननिमित्तैराध्यात्मिकैः पापदोषै बाह्यैश्चाशुच्यादिसंसर्गदोषैः। जैसे सूर्य प्रकाश के द्वारा चक्षु का उपकार करता हुआ, अर्थात् मुत्र पुरीष आदि अशुचि पदार्थो को प्रकाशन से उनके देखने वालों सभी का चक्षु होता हुआ भी, बाहर के अशुचि आदि दर्शन के कारण अथवा आध्यात्मिक पाप दोषों से और बाहर के संसर्ग आदि दोषों से लिप्त नहीं होता, **एकः संस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः।** वैसे समस्त प्राणियों में अन्तरात्मा एक होता हुआ प्राणियों के दुःखों से लेपायमान नहीं होता है। **लोको ह्यविद्यया स्वात्मन्य-ध्यस्तया कामकर्मोद्भवं दुःखमनुभवति।** लोग अविद्या से अपनी आत्मा में अध्यस्त कामकर्म से उत्पन्न दुःख को अनुभव करते हैं। **न तु सा परमार्थतः स्वात्मनि।** किन्तु वह (दुःख) परमार्थ से आत्मा में नहीं है। **यथा रज्जुशुक्तिकोषरगगनेषु सर्परजतोदकमलानि न रज्ज्वा-दीनां स्वतो दोषरूपाणि सन्ति।** जैसे रस्सी, सीपी, उषर भूमि, आकाश में सर्प, चाँदी, जल, मल आदि स्वरूप से दोष रूप में नहीं होते हैं। **संसर्गिणि विपरीतबुद्ध्यध्यासनिमित्तात्तद्दोषवद्विभाव्यन्ते।** विपरीत बुद्धि रूप अध्यास के कारण उससे संसर्गी उस दोषवाले मनुष्य के द्वारा वे अधिष्ठान दोषवाले प्रतीत होते हैं। **न तद्दोषैस्तेषां लेपो विपरीतबुद्ध्यध्यासबाह्या हि ते।** उन दोषों से उन अधिष्ठान का लेप नहीं है क्योंकि वे विपरीत बुद्धि रूप अध्यास से बाहर है। **तथाऽऽत्मनि सर्वो लोकः क्रियाकारकफलात्मकं विज्ञानं सर्पादिस्थानीयं विपरीतमध्यस्य तन्निमित्तं जन्ममरणादिदुःखमनुभवति न त्वात्मा सर्व-लोकात्माऽपि सन्विपरीताध्यारोपनिमित्तेन लिप्यते लोकदुःखेन।** वैसे सभी लोग, आत्मा में सर्प आदि स्थानीय क्रिया-कारक-फल रूप विपरीत ज्ञान का अध्यास करके उस से होने वाला जन्म-मरण आदि दुःख को अनुभव करते हैं, किन्तु आत्मा (ब्रह्म) सभी की आत्मा होते हुए भी विपरीत अध्यारोप निमित्त लोगों के दुःख से लेपायमान नहीं होता है। **कुतः। बाह्यः। रज्ज्वादिवदेव विपरीत-बुद्ध्यध्यासबाह्यो हि स इति।।। ११।।** कैसे? क्योंकि वह उससे बाह्य

है। रज्जु आदि के समान विपरीत बुद्धि रूप अध्यास से वह बाहर है, अर्थात् अछूता है।। ११।। टीका- विपरीतबुद्धिअध्यास से बाह्य अर्थात् जैसे रज्जु आदि का स्वरूप से भ्रम का अविषय होना है। तथा चैतन्य उपाधि रूप से अध्यास का आश्रय होने पर भी निरूपाधिक बिम्ब के समान ब्रह्म रूप से अध्यास का अनाश्रयत्व होने से दुःखित्व प्राप्ति नहीं है।। ११।।

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्।। १२।।

किंच यः एकः वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा करोति- और भी जो परमेश्वर एक है, जिसके वश में सारा संसार है, सभी प्राणियों की आत्मा है, वह एक होता हुआ नाम-रूप उपाधि भेद के कारण अनेक करता है (अनेक रूप में प्रतीत होता है) **तं ये धीराः आत्मस्थं अनुपश्यन्ति तेषां शाश्वतं सुखं न इतेरेषाम्-** उस परमेश्वर को जो धीर पुरुष हृदय-आकाश में अर्थात् बुद्धि में आचार्य के द्वारा आगम के उपदेश के बाद साक्षात्कार करते हैं, उन्हें ही शाश्वत सुख मिलता है, दूसरों को नहीं।। १२।।

टीका- अपने में हीन भावना और दूसरे में उत्कर्ष देखना यह परतन्त्रता है, वह दुःख का कारण प्रसिद्ध है। वह ईश्वर में न होने से परमात्मा दुःखी नहीं है। इसलिए उसकी प्राप्ति परम पुरुषार्थ है, इसक कहते हैं- **किंच स हि परमेश्वरः सर्वगतः स्वतन्त्र एको न तत्समोऽभ्यधिको वाऽन्योऽस्ति।** और भी वह परमेश्वर सर्व व्यापक स्वतन्त्र एक है। उसके समान या उससे अधिक कोई नहीं है। **वशी सर्वं ह्यस्य जगद्वशे वर्तते। कुतः। सर्वभूतान्तरात्मा।** वह वशी है क्योंकि सारा जगत् इसके वश में है। कैसे? क्योंकि वह सभी प्राणियों की आत्मा है। **यत एकमेव सदैकरसमात्मानं विशुद्धविज्ञानरूपं नामरूपाद्यशुद्धो-पाधिभेदवशेन बहुधाऽनेकप्रकारं यः करोति स्वात्मसत्तामात्रेणाचिन्त्य-शक्तित्वात्।** जिसलिए एक होता हुआ विशुद्ध विज्ञान स्वरूप एक रस आत्मा को आत्मसत्ता मात्र से अचिन्त्य-शक्ति वालो होने से

नाम-रूप आदि अशुद्ध उपाधि भेद के द्वारा अनेक प्रकार कर देता है। **तमात्मस्थं स्वशरीरहृदयआकाशे बुद्धौ चैतन्याकारेणाभिव्यक्तमि-त्येतत्।** उसे आत्मस्थ अर्थात् शरीर के हृदय परिमाण आकाश में अर्थात् बुद्धि में चैतन्य आकार से अभिव्यक्त उसे। **न हि शरीरस्या-ऽऽधारत्वमात्मनः। आकाशवदमूर्तत्वात्। आदर्शस्थं मुखमिति यद्वत्।** क्योंकि आकाश के समान अमूर्त होने से शरीर आत्मा का आधार नहीं है। जैसे दर्पण में दीखने वाला मुख का आधार दर्पण नहीं है। **तमेतमीश्वरमात्मानं ये निवृत्तबाह्यवृत्तयोऽनुपश्यन्ति आचार्यागमोपदेश-मनु साक्षदनुभवन्ति धीरा विवेकिनस्तेषां परमेश्वरभूतानां शाश्वतं नित्यं सुखमात्मानन्दलक्षणं भवति नेतरेषां बाह्यासक्तबुद्धीनामविवेकिनां स्वात्मभूतमप्यविद्याव्यवधानात्।। १२।।** जो बाह्य वृत्तियों से निवृत्त है वे धीर अर्थात् विवेकी आचार्य के द्वारा आगम के उपदेश के बाद ईश्वर स्वरूप आत्मा को साक्षात् अनुभव करते हैं, उन को परमेश्वर के स्वरूप शाश्वत अर्थात् नित्य आत्मानन्द लक्षण वाला सुख होता है, दूसरे जिनकी बुद्धि बाह्य पदार्थों में आसक्त है ऐसे अविवेकियों के लिए आत्मस्वरूप होता हुआ भी सुख अविद्या व्यवधान के कारण प्राप्त नहीं होता।। १२।।

नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्।। १३।।

यः अनित्यानां नित्यः चेतनानां चेतनः बहूनां एकः (सः) कामान् विदधाति- जो विनाशी पदार्थों में अविनाशी तत्त्व है, जो चेतनों में चेतन है और अनेकों में एक होता हुआ कामनाओं अर्थात् कर्मफलों को देता है। **ये धीराः तं आत्मस्थं अनुपश्यन्ति तेषां शाश्वती शान्तिः न इतरेषाम्-** जो धीर पुरुष उस परमात्मा को आचार्य के उपदेश के बाद अपने आत्मा में (हृदय में) अभिन्न रूप

से स्थित जानते हैं उन्हें शाश्वत शान्ति मिलती है, दूसरों को नहीं।। १३।।

टीका- अब परमात्मा में उपपत्ति (युक्ति) दिखाने के लिए कहते हैं- **किंच नित्योऽविनाश्यनित्यानां विनाशिनाम्।** और भी वह परमात्मा अनित्य अर्थात् विनाशी शरीर आदि में चेतन अर्थात् अविनाशी तत्त्व है। टीका- **'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्'** 'परमात्मा ने सूर्य चन्द्रमा आदि पूर्वकल्प के अनुरूप बनाया' इस श्रुति से तथा अकृत अभ्यागम और कृतविप्रनाश प्रसंग के परिहार के लिए प्रलीन कल्पान्तरीय (पूर्वकल्पके) पदार्थों को इस कल्प में सजातीय रूप से उत्पाद प्रतीत होता है। वह तब हो सकता है, जब विनाशी पदार्थों का शक्तिशेष लय हो। इससे प्रलय के समय नष्ट हुए सब जिसमें शक्तिशेष विलीन होते हैं उसे स्वीकार करना चाहिए। यह अर्थ है। बुद्धिमान ब्रह्मा इन्द्र आदि का परमानन्द के अभिमुख छोड़कर जो बर्हिमुख चेतना उपलब्ध होता है वह भी नियन्ता परमात्मा को बोधित करता है। इस बात को कहते हैं- **चेतनश्चेतनानां चेतयितृणां ब्रह्मादीनां प्राणि-नामग्निनिमित्तमिव दाहकत्वमनग्नीनामुदकादीनामात्मचैन्यनिमित्तमेव चेतयितृत्वमन्येषाम्।** जैसे अग्नि रहित जल आदि का अग्नि के निमित्त दाहकत्व है वैसे अन्य चेतयिता (चैतन्य वाले) ब्रह्मा आदि प्राणियों का चेतयितृत्व (चैतन्य स्वभाव) आत्म चैतन्य के निमित्त ही है। टीका- ब्रह्मा आदि शब्द से वाच्यों का या (शरीर, इन्दिय आदि) संघातों का, जिस चैतन्य के कारण चेतयितृत्व है वह परमात्मा है। कर्मफलों के स्वरूप को जानने वाला उन फलों को देता है, क्योंकि कर्म और फलप्राप्ति में व्यवधान है, सेवा आदि फल के समान। यह तर्क है। इस कहते हैं- **किंच स सर्वज्ञः कामिनां संसारिणां कर्मानुरूपं कामान्कर्मफलानि स्वानुग्रहनिमितित्तांश्च कामान्य एको बहूनामनेकेषामनायासेन विदधाति प्रयच्छतीत्येतत्।** ओर भी वह सर्वज्ञ ईश्वर कामी अर्थात् संसारी जीवों के कर्म के अनुरूप कामों को अर्थात् कर्मफलों को, अपने अनुग्रह के कारण कामनाओं को अकेला ही किसी परिश्रम के बिना अनेक संसारिओं को देता है। **तमात्मस्थं येऽनुपश्यनित धीरास्तेषां शान्तिरुपरतिः शाश्वती नित्या स्वात्मभुतैव स्यान्नेतरेषामनेवंविधा- नाम्।। १३।।** जो धीर पुरुष

आचार्य के उपदेश के बाद उस ईश्वर को अपने हृदय अर्थात् बुद्धि में स्थित देखता है, उसे ही शाश्वती अर्थात् नित्य आत्मस्वरूप शान्ति अर्थात् उपरति प्राप्त होती है, उससे विपरीत अज्ञानी को शान्ति नहीं मिलती है।। १३।।

तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्चं परमं सुखम्।
कथं नु तद्विजानीयां किमु भाति विभाति वा।। १४।।

तत् अनिर्देश्यं परमं सुखं एतत् इति मन्यन्ते– निर्देश करने में असंभव उस आत्मज्ञान वाला परम सुख को ज्ञानी जन एतत् अर्थात् प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। **कथं नु तत् विजानीयाम्–** किस प्रकार मैं उस सुख का अनुभव कर सकता हूँ? **किम् उ भाति विभाति वा**– क्या वह भाति अर्थात् प्रकाश रूप होने से हमारी बुद्धि के विषय हो कर विष्पष्ट दीखता है या नहीं दीखता है?।। १४।।

टीका– विद्वानों का अनुभव भी परमानन्द में प्रमाण है,इसे कहते हैं– **यत्तदात्मविज्ञानं सुखमनिर्देश्यं निर्देषुमशक्यं परमं प्रकृष्टं प्राकृतपुरुष–वाङ्मनसयोरगोचरमपि सन्निवृत्तैषणा ये ब्राह्मणास्ते तदेतत्प्रत्यक्षमेवेति मन्यन्ते,** जो आत्मविज्ञान रूप सुख है वह अनिर्देश्य अर्थात् निर्देश करने योग्य नहीं है। वह परम अर्थात् प्रकृष्ट सुख है। साधारण पुरुषों के वाणी मन के अगोचर होता हुआ एषणा रहित जो ब्राह्मण हैं वे उसे एतत् अर्थात् प्रत्यक्ष मानते हैं। टीका– इसलिए परमात्मा का दर्शन असंभव होने से उसका त्याग नहीं करना चाहिए किन्तु श्रद्धा पूर्वक विचार करना चाहिए, इसे कहते हैं– **कथं नु केन प्रकारेण तत्सुखमहं विजानीयाम्।** किस प्रकार उस सुख को मैं जानूँ अर्थात् अनुभव करूँ। **इदमित्यात्मबुद्धिविषयमापादयेयं यथा निवृत्तैषणा यतयः।** एषणा रहित यतियों के समान उसे 'यह है' इस प्रकार अपनी बुद्धि का विषय बनाऊँ? **किमु तद्भाति दीप्यते प्रकाशात्मकं तद्यतोऽतोऽस्मद्–बुद्धिगोचरत्वेन विभाति विस्पष्टं दृश्यते किंवा नेति।। १४।।** और भी वह प्रकाशित हो रहा है, क्योंकि वह प्रकाश स्वरूप है, इसलिए

हमारी बुद्धि के विषय रूप से विस्पष्ट दीखता है या नहीं दीखता है।। १४।।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।। १५।।

इति काठकोपनिषदि द्वितीयाध्याये द्वितीया वल्ली समाप्ता।। २।।

तत्र सूर्यः न भाति– उस आत्मस्वरूप ब्रह्म को सूर्य प्रकाशित नहीं कर सकता है, **चन्द्रतारकं न**– चन्द्रमा और तारें भी उसे प्रकाशित नहीं कर सकते, **इमा विद्युतः न भान्ति**– ये बिजलियाँ भी उसे प्रकाशित नहीं कर सकती, **अयं अग्निः कुतः**– तो यह सामान्य अग्नि कहाँ उसे प्रकाशित कर सकती है। **तं एव भान्तं सर्वं अनुभाति**– वह प्रकाशित होने से ही सभी प्रकाशित होते हैं। **तस्य भासा इद्र सर्वं विभाति**– क्योंकि उसके प्रकाश से ही सब प्रकाशित होते हैं।। १५।।

अत्रोत्तरमिदं भाति च विभाति चेति। कथम्। पूर्व प्रश्न 'किमु भाति विभाति वा' का यह उत्तर है कि वह भाति अर्थात् प्रकाशित होता है और विभाति विस्पष्ट रूप से प्रकाशित होता है। वह कैसे? **न तत्र तस्मिन्स्वात्मभूते ब्रह्मणि सर्वावभासकोऽपि सूर्यो भाति तद्ब्रह्म न प्रकाशयतीत्यर्थः।** वहाँ अर्थात् उस आत्मस्वरूप ब्रह्म में सर्वप्रकाशक सूर्य भी प्रकाशित नहीं होता अर्थात् वह सूर्य ब्रह्म को प्रकाशित नहीं कर सकता। **तथा न चन्द्रतारके नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमस्मद्गोचरोऽग्निः।** वैसे चन्द्रमा और तारा और ये विजलियाँ उसे प्रकाशित नहीं कर सकते, हमारे विषय होने वाला यह अग्नि उसे कैसे प्रकाशित कर सकती? **किंबहुना यदिदमादित्यादिकं सर्वं भाति तत्तमेव परमेश्वरं भान्तं दीप्यमानमनुभात्यनुदीप्यते।** बहुत कहने से क्या, जो ये आदित्य आदि सारे प्रकाशित हो रहे हैं, वे उस परमेश्वर के प्रकाशित होने के अनन्तर ही प्रकाशित होते हैं। **यथा**

जलोल्मुकाद्यग्निसंयोगादग्निं दहन्तमनु दहति न स्वतस्तद्वत्। जैसे जल और उल्मुक (जलती लकड़ी या मसाल) आदि के साथ अग्नि के संयोग होने से अग्नि को जलाते हुए बाद में ये जलाते हैं, स्वतः नहीं जलाते हैं। ठीक वैसे समझना चाहिए। **तस्यैव भासा दीप्त्या सर्वमिदं सूर्यादि विभाति। यत एवं तदेव ब्रह्म भाति च विभाति च।** उसके प्रकाश से ही ये सब सूर्य आदि प्रकाशित होते हैं। जबकि ऐसी बात है, वही ब्रह्म प्रकाशित होता है और विशेष रूप से प्रकाशित होता है। **कार्यगतेन विविधेन भासा तस्य ब्रह्मणो भारूपत्वं स्वतोऽवगम्यते।** सूर्य आदि कार्य में स्थित विविध प्रकार के प्रकाश से उस ब्रह्म का प्रकाश रूपता स्वतः ही जानी जाती है। **न हि स्वतोऽविद्यमानं भासनमन्यस्य कर्तुं शक्यम्। घटादीनामन्यावभाकत्वा-दर्शनाद्भासनरूपाणां चाऽऽदित्यादीनां तद्दर्शनात्।। १५।।**

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमदा-चार्यश्रीशंकरभगवतः कृतौ काठकोपनिषद्भाष्ये द्वितीयाध्याये द्वितीयवल्लीभाष्यं समाप्तम्।। २।।

जिसमें स्वतः प्रकाश रूप नहीं है वह दूसरे को प्रकाशित नहीं कर सकता। जैसे घट आदि का अन्य को प्रकाशित करना नहीं देखा गया है, उसके विपरीत प्रकाशमान सूर्य आदि का दूसरों को प्रकाशित करते हुए देखा गया है।। १५।।

टीका- इसमें कोई टीका नहीं है।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दपूज्वपादशिष्यानन्दज्ञान-विरचिते काठकोपनिषद्भाष्यव्याख्याने द्वितीयाध्याये द्वितीयवल्लीभाष्यटीका समाप्ता।। २।।

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषेऽश्वत्थः सनातनः।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन। एतद्वै तत्।। १।।

एषः ऊर्ध्वमूलः अवाक्शाखः– विष्णु के परम पद रूप यह संसार वृक्ष ऊपर की ओर मूल वाला और अव्यक्त से लेकर स्थावर पर्यन्त इसकी शाखा नीचे की ओर है। **अश्वत्थः–** यह संसार वृक्ष बदलने बाला स्वभाव के है तथा **सनातनः–** अनादि होने से चिर काल से प्रवृत्त है। **तत् एव शुक्रम्–** संसार वृक्ष का जो मूल है वह ही शुद्ध है। **तत् ब्रह्म तत् एव अमृतं उच्यते–** वह ब्रह्म है, और उसे अमृत भी कहा जाता है। **तस्मिन् सर्वे लोकाः श्रिताः–** उस ब्रह्म में समस्त लोक आश्रित है। **तत् उ कश्चन न अत्येति–** उसका कोई अतिक्रमण नहीं कर सकता है। **एतत् वै तत्–** वही यह प्रसंग प्राप्त ब्रह्म है।। १।।

टीका– सेमल आदि तूल (तना– वृक्ष का उपर भाग) के दर्शन से न दीखता हुआ उसका मूल (जड़) है, इस प्रकार निश्चय होता है, वैसे अदृष्ट ब्रह्म के निश्चय के लिए प्रकरण का आरंभ करते हैं– **तूलावधारणेनैव मूलावधारणं वृक्षस्य क्रियते लोके यथैवं संसारकार्यवृक्षावधारणेन तन्मूलस्य ब्रह्मणः स्वरूपावदिधारयिषयेयं षष्ठी वल्ल्यारभ्यते।** संसार में वृक्ष का तना को देखकर जैसे उसका मूल का निश्चय किया जाता है, वैसे संसार रूप कार्य, वृक्ष का निश्चय से उसके मूल ब्रह्म का स्वरूप को निश्चय करने के लिए यह छठी वल्ली आरंभ होता है। **ऊर्ध्वमूल ऊर्ध्वं मूलं यत्तद्विष्णोः परमं पदमस्येति सोऽयमव्यक्तादिस्थावरान्तः संसारवृक्ष ऊर्ध्वमूलः।** ऊपर अर्थात् विष्णु का परम पद, वह है मूल (जड़, कारण), जिस अव्यक्त से लेकर स्थावर पर्यन्त संसार वृक्ष का, वह ऊर्ध्वमूल है। **टीका–** वृक्ष शब्द में प्रवृत्ति का कारण कहते हैं– **वृक्षश्च व्रश्चनात्।** जिसका छेदन होता है अर्थात् जो

कट जाता है वह वृक्ष है। **टीका–** ओव्रश्चू छेदने इस धातु से प्रत्यय होकर वृक्ष शब्द बनता है। छेदन में (कट जाने में) हेतु देते हैं– **जन्मजरामरण–शोकद्यनेकानर्थात्मकः–** जन्म, जरा, मरण, शोक आदि अनेक अनर्थ रूप, **प्रतिक्षणमन्यथास्वभावो–** प्रतिक्षण अन्यथा स्वभाव वाला, **माया–मरीच्युदकगन्धर्वनगरादिवद्दृष्टनष्टस्वरूपत्वात्–** माया, मरीचिका के जल, गन्धर्व नगर आदि के समान देखते ही नष्ट स्वरूप वाला होने से, टीका– अथवा प्रसिद्ध वृक्ष की समानता से वृक्ष शब्द का प्रयोग इस अभिप्राय से कहते हैं– **अवसाने च वृक्षवदभावात्मकः–**आखीर को वृक्ष के समान अभाव रूप, **कदलीस्तम्भवन्निःसारो–** कदली पेड़ के समान निःसार, **ऽनेकशतपाखण्डबुद्धिविकल्पास्पदः–** हजारों पाखंडों की बुद्धि के विकल्पों के विषय, टीका– प्रसिद्ध वृक्ष, स्थाणु है या पुरुष है, इस प्रकार विकल्प के आश्रय के रूप में देखा गया है, वैसे यह संसार (वृक्ष) संघात (समष्टि) है, या परिणाम है, या आरंभ (उत्पन्न) हुआ है, सत् है या असत् है, इत्यादि अनेक सौ पाखंडबुद्धि विकल्पों का विषय है। **तत्त्वविजिज्ञासुभिरनिर्धारितेदंतत्त्वः–** तत्त्व के जिज्ञासुओं के द्वारा जिस इदं तत्त्व (वृक्ष) का निर्धारण नहीं किया गया, **वेदान्तनिर्धारितपरब्रह्ममूल–सारः–** किन्तु वेदान्त से निर्धारण किया गया परब्रह्म जिसका मूलसार है, **अविद्याकामकर्माव्यक्तबीजप्रभवः–** अविद्या, काम, कर्म, अव्यक्त रूप बीज से जो उत्पन्न हुआ है, **अपरब्रह्मविज्ञानक्रिया–शक्तिद्वयात्मकहिरण्यगर्भाङ्कुरः–** अपरब्रह्म ईश्वर के ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति इन दोनों शक्ति स्वरूप हिरण्यगर्भ अंकुर वाला, टीका– अपर ब्रह्म ईश्वर के दोनों विज्ञान और क्रिया शक्ति स्वरूप वाला हिरण्यगर्भ प्रथम अवस्था–भेद इस संसार वृक्ष का अंकुर है। **सर्वप्राणिलिंगभेदस्कन्धः–** सभी प्राणियों के सूक्ष्मशरीर स्कन्ध (तना) वाला, **तत्तृष्णाजलासेको–द्भूतदर्पः–** उस तृष्णा रूप जल के सेचन से शक्तिवाला **बुद्धीन्द्रिय–विषयप्रवालाङ्कुरः–** बुद्धि और इन्द्रियों के शब्द आदि विषय रूप नये कोमल पत्ते वाला, टीका– बुद्धि और इन्द्रियों के विषय शब्द आदि है प्रवालांकुर अर्थात् किसलय (कोंपल) इसका, वह वैसा। **श्रुतिस्मृतिन्याय–**

विद्योपदेशपलाशो– श्रुति, स्मृति, न्याय आदि विद्या के उपदेश रूप पत्ते वाला, **टीका**– श्रुति आदि है पलाश अर्थात् पत्र इसके। **यज्ञदानतप–आद्यनेकक्रियासुपुष्पः–** यज्ञ, दान, तप आदि अनेक क्रिया रूप पुष्प वाला, **सुखदुःखवेदनानेकरसः–** सुख, दुःख और वेदना रूप अनेक रसवाला, **टीका–** सुख और दुःख तथा प्राणियों की वेदना ही अनेक रस है इसका। **प्राण्युपजीव्यानन्तफलः–** प्राणियों के द्वारा जीविका प्रदान करने वाला अनन्त फल वाला, **तत्तृष्णासलिलावसेकप्ररूढजडीकृतदृढबद्ध–मूलः** – फल की तृष्णा रूप जल के सेचन से बढ़े हुए दृढ़ बन्धन वाले अवान्तर मूल वाला (शाखा रूप पतली जड़े) **टीका**– फल की तृष्णा रूप जल से सींचित है, उससे बढ़े हुए कर्म की वासना आदि, सात्त्विक आदि भाव से मिश्रित दृढ़ बन्धन वाले अवान्तर मूल वाला यह वटवृक्ष के समान संसारवृक्ष है। **सत्यनामादिसप्तलोकब्रह्मादिभूतपक्षिकृतनीडः–** ब्रह्मा आदि प्राणि रूप पक्षियों के द्वारा निर्मित सत्य आदि सात लोक घोंसले वाला, टीका– सत्य आदि नाम वाले सात लोकों में ब्रह्मा आदि प्राणि ही पक्षि हैं, उनसे किया गया घोंसला जिस वृक्ष में। **प्राणिसुखदुःखोद्भुतहर्ष–शोकजातनृत्यगीतवादित्रक्ष्वेलितास्फोटितहसिताकृष्टरुदितहाहामुंचमुंचे–त्याद्यनेकशब्दकृततुमुलीभूतमहारवो–** प्राणियों के सुख दुःख से उत्पन्न हर्ष और शोक से जन्य नृत्य, गीत, वाद्य, क्ष्वेलित अर्थात् खेल या हंसी–मजाक, आस्फोटित अर्थात् ताल ठोकना, हँसी, आक्रन्दन, रोदन, हाय–हाय, छोड़ दे छोड़ दे, इत्यादि अनेक शब्दों से उत्पन्न तुमुल ध्वनि वाला, टीका– प्राणियों के सुख दुःख से उत्पन्न हर्ष–शोक, उनसे यथा क्रम से उत्पन्न नृत्य आदि और रोदन आदि शब्द, इनसे होने वाला तुमुल हुआ महान् शब्द जिसमें इस प्रकार का विग्रह है। **वेदान्तविहित–ब्रह्मात्मदर्शनासंगशस्त्रकृतोच्छेद–** वेदान्त से विहित ब्रह्मात्मदर्शन रूप असंग शस्त्र से कटने वाला **एष संसारवृक्षोऽश्वत्थोऽश्वत्थवत्कामकर्म–वातेरितनित्यप्रचलितस्वभावः–** कामना और कर्म रूप वायु से नित्य चलायमान (हिलने वाला) पीपल वृक्ष के समान यह अश्वत्थ संसार–वृक्ष **स्वर्गनरकतिर्यक्प्रेतादिभिः शाखाभिरवाक्शाखः–** स्वर्ग,

नरक, तिर्यक्, प्रेत आदि से नीचे की ओर खाखा वाला यह संसार वृक्ष **सनातनोऽनादित्वाच्चिरं प्रवृत्तः-** सनातन है अर्थात् अनादि होने से चिर काल से प्रवृत्त है। **यदस्य संसारवृक्षस्य मूलं तदेव शुक्रं शुभ्रं शुद्धं ज्योतिष्मच्चैतन्यात्म- ज्योतिःस्वभावं तदेव ब्रह्म सर्वमहत्त्वात्।** जो इस संसार वृक्ष का मूल है वह ही शुक्र अर्थात् शुभ्र अर्थात् शुद्ध अर्थात् ज्योतिवाला अर्थात् चैतन्यज्योति स्वभाव वाला है। वह ही सब से महान् (व्यापक) होने से ब्रह्म है। **तदेवामृतमविनाशस्वभाव-मुच्यते कथ्यते सत्यत्वात्।** वह संसार वृक्ष का मूल ब्रह्म सत्य होने से अमृत अर्थात् अविनाशी स्वभाव वाला कहा जाता है। **वाचा-रम्भणं विकारो नामधेयमनृतमन्यदतो मर्त्यम्।** इस ब्रह्म से भिन्न कहने मात्र के लिए विकार नामवाले सभी पदार्थ मिथ्या होने से विनाशी है। **तस्मिन्परमार्थसत्ये ब्रह्मणि लोका गन्धर्वनगरमरीच्युदक-मायासमाः परमार्थदर्शनाभावावगमनाः श्रिता आश्रिताः सर्वे समस्ता उत्पत्तिस्थितिलयेषु।** उस पारमार्थिक सत्य ब्रह्म में गन्धर्व-नगर, मरीचिका-जल, माया के समान परमार्थ ज्ञान से अभाव सिद्ध होने वाले समस्त लोक उत्पत्ति-स्थिति-लय में आश्रित हैं। **तदु तद्ब्रह्म नात्येति नातिवर्तते मृदादिमिव घटादिकार्यं कश्चन कश्चिदपि विकारः। एतद्वै तत्।। १।।** जैसे घट आदि कार्य अपने कारण मृत्तिका का अतिक्रमण नहीं कर सकते, वैसे कोई भी विकार उस ब्रह्म का अतिक्रमण नहीं कर सकते। वही यह प्रसंग प्राप्त ब्रह्म है।। १।।

यदिदं किंच जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्।
महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति।। २।।

वज्रं उद्यतं महत् भयं प्राणे (सति) (ततः) निःसृतम् यत् इदं किंच सर्वं जगत् एजति- वज्र उठाए महान् भय के समान उस प्राण अर्थात् परंब्रह्म के होते हुए (अस्तित्व से), उससे उत्पन्न हुए यह सब कुछ जगत् नियम से चेष्टा करते हैं। **ये एतत् विदुः ते अमृताः**

भवन्ति– जो उसे अपनी आत्मा के रूप में जानते हैं वे अमरत्व को प्राप्त करते हैं।। २।।

टीका– शून्यता पर्यन्त नष्ट हुए कार्य का असत् से जन्म होता है, उससे उसका कोई मूल (कारण) नहीं है इस प्रकार शंका करते हैं–
यद्विज्ञानादमृता भवन्तीत्युच्यते जगतो मूलं तदेव नास्ति ब्रह्मासत एवेदं निःसृतमिति। तन्न। जिसके ज्ञान से अमर हो जाते हैं, जो संसार का मूल (कारण) है, ऐसा कहा जाता है, वह ब्रह्म वास्तव में है ही नहीं क्योंकि यह संसार असत् से उत्पन्न हुआ है। ऐसी शंका ठीक नहीं। **टीका– तन्न** अर्थात् असत् खरगोश के सींग की उत्पत्ति नहीं देखी गयी है, और सत् पूर्वक होना प्रसिद्धि से (उत्पत्ति सत्पूर्विका प्रसिद्धत्वात्) जगत् के मूल अर्थात् कारण कोई सत् वस्तु है यह सिद्ध होता है। वह प्राण पद से लक्षित प्राणवृत्ति का हेतु है। **यदिदं किंच यत्किंचेदं जगत्सर्वं प्राणे परस्मिन्ब्रह्मणि सत्येजति कम्पते तत एव निःसृतं निर्गतं सत्प्रचलति नियमेन चेष्टते।** यह जो कुछ दिखने वाला सारा जगत् प्राण अर्थात् परब्रह्म से उत्पन्न होते हुए उस के होने से अर्थात् उसके अस्तित्व से चलता है अर्थात् नियम से चेष्टा करता है। **यदेवं जगदुत्पत्त्या–दिकारणं ब्रह्म तन्महद्भयम्।** जो यह संसार के उत्पत्ति आदि के कारण ब्रह्म है वह महान् भय रूप है। **महच्च तद्भयं च बिभेत्यस्मा–दिति महद्भयम्।** जिससे डरते हैं वह भय है, जो महान् है और भय रूप है, वह महद्भय है। **वज्रमुद्यतमुद्यतमिव वज्रम्।** वज्र उठाए हुए अर्थात् उठाए हुए वज्र के समान। **यथा वज्रोद्यतकरं स्वामिनमभि–मुखीभूतं दृष्ट्वा भृत्या नियमेन तच्छासने वर्तन्ते तथेदं चन्द्रादित्यग्रह–नक्षत्रतारकादिलक्षणं जगत्सेश्वरं नियमेन क्षण्मप्यविश्रान्तं वर्तत इत्युक्तं भवति।** जैसे वज्र उठाए स्वामी (मालिक) को सामने देख कर नौकर नियम पूर्वक उसकी आज्ञा का पालन करते हैं, वैसे चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और तारा आदि जगत् अपने अधिष्ठातृ देवों के सहित नियम पूर्वक एक क्षण भी विश्राम किए बिना अपने कर्तव्य में लगे रहते हैं। यह मंत्र का अर्थ निकलता है। **य एतद्विदुः स्वात्मप्रवृत्ति–**

साक्षिभूतमेकं ब्रह्मामृता अमरणधर्माणस्ते भवन्ति।। २।। जो इस अपनी प्रवृत्ति के साक्षी रूप, एक ब्रह्म को जानते है, वे अमृत अर्थात् अमरण धर्म वाले हो जाते हैं।। २।।

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पंचमः।। ३।।

अस्य भयात् अग्निः तपति– इस परमात्मा की भय से अग्नि तपता है। **(अस्य) भयात् सूर्यः तपति–** इस के भय से सूर्य भी तप रहा है। **(अस्य) भयात् इन्द्रः च वायुः च पंचमः मृत्युः धावति–** इसके भय से इन्द्र और वायु अपने अपने कार्य कर रहे हैं। इसके भय से पांचवाँ मृत्यु भी दौड़ता है अर्थात् बिना विश्राम किये अपना कार्य सुचारु रूप से संपादन करता है।। ३।।

भयाद्भीत्याऽस्य परमेश्वरस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यो भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पंचमः। – इस परमेश्वर की भय से अग्नि तपता है।इस के भय से सूर्य भी तप रहा है।इसके भय से इन्द्र और वायु अपने अपने कार्य कर रहे हैं। इसके भय से पांचवाँ मृत्यु भी दौड़ता है अर्थात् बिना विश्राम किये अपना कार्य सुचारु रूप से संपादन करता है।**नहीश्वराणां लोकपालानां समर्थानां सतां नियन्ता चेद्वज्रोद्यत करवन्न स्यात्स्वामिभयभीतानामिव भृत्यानां नियता प्रवृत्तिरुपपद्यते।। ३।।** मालिक के भय से जैसी नौकरों की प्रवृत्ति होती है, वैसे समर्थ लोकपालों के लिए, हाथ में वज्र लिए कोई नियन्ता (नियमन करने वाला) नहीं होता तो उन में नियत प्रवृत्ति संभव नहीं होती।। ३।।

इह चेदशकद्बोद्धुं प्राक्शरीरस्य विस्रसः।
ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते।। ४।।

शरीरस्य विस्रसः प्राक् इह बोद्धुं अशकत् चेत्– इस शरीर के नाश से पहले जीवित रहते हुए आत्मा से अभिन्न ब्रह्म को

जानने में असमर्थ हुआ तो, **ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते–** उससे पृथिवी आदि लोकों में शरीर प्राप्ति के लिए समर्थ होता है। अर्थात् शरीर प्राप्त करता है।। ४।।

टीका– सूर्य आदि का नियत प्रवृत्ति अनुपपत्ति से, नियामक के रूप में संभावित जो परमेश्वर का स्वरूप है, उसे जानने के लिए यहाँ प्रयत्न करना चाहिए, इस बात को कहते हैं– **तच्चेह जीवन्नेव चेद्यद्यशकच्छक्नोति शक्तः सन्नूजानात्येतद्भय– कारणं ब्रह्म बोद्धुमवगन्तुं प्राक्पूर्वं शरीरस्य विस्रसोऽवस्रंसनात्पतनात्सं– सारबन्धनाद्विमुच्यते।** यहाँ शरीर के छूटने से पहले जीवित रहते यदि समर्थ होते हुए भय का कारण ब्रह्म को जानने में समर्थ होता है अर्थात् जानता है। उससे संसार बन्धन से मुक्त हो जाता है। **टीका–** यहाँ ही जानने के लिए समर्थ होता हुआ यदि जानता है, तब मुक्त हो जाता है, इस प्रकार भाष्य में वाक्य का संबन्ध समझना चाहिए। **न चेदशकद्बोद्धुं ततोऽनवबोधनात्सर्गेषु सृज्यन्ते येषु स्रष्टव्याः प्राणिन इति सर्गाः पृथिव्यादयो लोकास्तेषु सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय शरीरभावाय कल्पते समर्थो भवति शरीरं गृह्णातीत्यर्थः।** यदि जानने में असमर्थ रहा, उस न जानने के कारण सर्ग लोकमें, जिसमें उत्पन्न होने वाले प्राणी उत्पन्न होते हैं वे पृथिवी आदि लोक सर्ग कहे जाते हैं, उन सर्ग लोक में शरीर प्राप्ति के लिए समर्थ होते हैं, अर्थात् शरीर ग्रहण करते हैं। **तस्माच्छशीरविस्रंसना– त्प्रागात्मबोधाय यत्न आस्थेयः।। ४।।** इसलिए शरीर के नष्ट होने से पहले ही आत्मज्ञान के लिए प्रयत्न करना चाहिए।। ४।।

यथाऽऽदर्शे तथाऽऽत्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके।
यथाऽप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्वलोके छायातपयो–
रिव ब्रह्मलोके।। ५।।

यथा आदर्शे तथा आत्मनि– जैसे दर्पण में मुख का प्रतिबिम्ब स्पष्ट दीखता है, वैसे मनुष्य शरीर की बुद्धि में आत्मा का स्पष्ट ज्ञान होता है। **यथा स्वप्ने तथा पितृलोके–** जैसे स्वप्न में

स्वप्न पदार्थ अस्पष्ट दीखते हैं वैसे पितृलोक में आत्मा का ज्ञान अस्पष्ट होता है। **यथा अप्सु परिदृश्यते इव तथा गन्धर्वलोके–** जैसे जल में प्रतिबिम्बित शरीर के अंग स्पष्ट रूप से अलग नहीं दीखते हैं, वैसे गन्धर्व लोक में आत्मा अस्पष्ट रूप से दीखता है। **छाया–तपयोः इव ब्रह्मलोके–** धूप और छाया के समान ब्रह्म लोक में स्पष्ट दीखता है।। ५।।

यस्मादिहैवाऽऽत्मनो दर्शनमादर्शस्थस्येव मुखस्य स्पष्टमुपपद्यते न लोकान्तरेषु ब्रह्मलोकादन्यत्र स च दुष्प्रापः कथमित्युच्यते– क्योंकि यहाँ हि आत्मा का दर्शन (ज्ञान) दर्पण में स्थित मुख के समान स्पष्ट रूप से संभव है, ब्रह्मलोक के अतिरिक्त किसी अन्य लोक में नहीं है और वह ब्रह्मलोक को प्राप्त करना कठिन है, वह कैसे इन प्रश्नों का उत्तर देते हैं– **यथाऽऽदर्शे प्रतिविम्बभूतमात्मानं पश्यति लोकोऽत्यन्तविविक्तं तथेहाऽऽत्मनि स्वबुद्धावादर्शवन्निर्मलीभूतायां विविक्तमात्मनो दर्शनं भवतीत्यर्थः।** जैसे स्वच्छ दर्पण में प्रतिबिम्बित अपने शरीर को अत्यन्त विविक्त (पृथक् पृथक् अंग वाला) लोग देखते हैं, वैसे अपनी आत्मा अर्थात् निर्मल हुई बुद्धि में आत्मा का स्पष्ट दर्शन होता है। यह अर्थ है। **यथा स्वप्नेऽविविक्तं जाग्रद्वासनो–द्भुतं तथा पितृलोकेऽविविक्तमेव दर्शनमात्मनः कर्मफलोपभोगासक्तत्वात्।** जैसे स्वप्न में जाग्रत् वासनाओं से प्रकट पदार्थों को अस्पष्ट रूप से देखते हैं वैसे कर्मफलों के भोग की वासना से आसक्त होने के कारण पितृलोक में आत्मा का अस्पष्ट दर्शन होता है। **यथा चाप्स्व–विभक्तावयवमात्मरूपं परीव ददृशे परिदृश्यते इव तथा गन्धर्वलोके–ऽविविक्तमेव दर्शनमात्मनः।** जैसे जल में अविभक्त (स्पष्ट रूप से अलग नहीं हुए) अवयव (अंग) वाला शरीर की छवि दीखता है, (इव अर्थात् तथा) वैसे गन्धर्व लोक में आत्मा का अविविक्त (अस्पष्ट) दर्शन होता है। **एवं च लोकान्तरेष्वपि शास्त्रप्रामाण्यादवग–म्यते।** इस प्रकार अन्य लोकों में भी शास्त्र प्रमाण से जाना जाता है। **छायातपयोरिवात्यन्तविविक्तं ब्रह्मलोक एवैकस्मिन्। स च दुष्प्रापो–**

ऽत्यन्तविशिष्टकर्मज्ञानसाध्यत्वात्। केवल ब्रह्मलोक में ही धूप और छाया के समान अत्यन्त स्पष्ट दीखता है। किन्तु विशिष्ट कर्म और उपासना से सिद्ध होने वाला वह ब्रह्मलोक दुःख से प्राप्त होता है। **तस्मादात्मदर्शनायेहैव यत्नः कर्तव्य इत्यभिप्रायः।। ५।।** इसलिए आत्मा के दर्शन (ज्ञान) के लिए इस मनुष्य शरीर में ही प्रयत्न करना चाहिए, यह अभिप्राय है।। ५।।

इन्द्रियाणां पृथग्भावमुदयास्तमयौ च यत्।
पृथगुत्पद्यमानानां मत्वा धीरो न शोचति।। ६।।

पृथक् उत्पद्यमानानां इन्द्रियाणाम्– अपने कारण आकाश आदि से पृथक् उत्पन्न होने वाले इन्द्रियों का, **यत् पृथग्भावम्–** आत्मा से जो पृथक् स्वभाव है, **उदयास्तमयौ च–** और उनकी जाग्रत सुषुप्ति अवस्था की अपेक्षा जो उत्पत्ति और लय को, **मत्वा धीरः न शोचति–** जान कर बुद्धिमान् शोक नहीं करता है।। ६।।

कथमसौ बोद्धव्यः किं वा तदवबोधे प्रयोजनमित्युच्यते– वह आत्मा किस प्रकार जाना जायेगा और उसके ज्ञान से क्या प्रयोजन है इसे आगे के मंत्र से कहते हैं– **इन्द्रियाणां श्रोत्रादीनां स्वस्वविषय–ग्रहणप्रयोजनेन स्वकारणेभ्य आकाशादिभ्यः पृथगुत्पद्यमानानामत्यन्त–विशुद्धात्केवलाच्चिन्मात्रात्मस्वरूपात्पृथग्भावं स्वभावविलक्षणात्मकतां तथा तेषामेवेन्द्रियाणामुदयास्तमयौ चोत्पत्तिप्रलयौ जाग्रत्स्वापावस्थापेक्षया नात्मन इति मत्वा ज्ञात्वा विवेकतो धीरो धीमान्न शोचति।** अपने विषय ग्रहण प्रयोजन के द्वारा अपने कारण आकाश आदि से अलग उत्पन्न होने वाले श्रोत्र आदि इन्द्रियों का, विशुद्ध केवल चिन्मात्र आत्मा के स्वरूप से पृथक् भाव अर्थात् विलक्षण स्वाभाव, तथा उन इन्द्रियों की उत्पत्ति और लय जाग्रत और सुसुप्ति अवस्था की अपेक्षा से होते हैं, किन्तु आत्मा का नहीं (अर्थात् जाग्रदादि अवस्था में इन्द्रियों का व्यभिचार है किन्तु आत्मा व्यभिचार रहित सदा एक स्वभाव वाला और उत्पत्ति लय आदि से रहित है) इसे बुद्धिमान्

विवेक पूर्वक जान कर शोक नहीं करता है। **आत्मनो नित्यैकस्वभा-वस्याव्यभिचाराच्छोककारणत्वानुपत्तेः। तथा च श्रुत्यन्तरं 'तरति शोकमात्मवित्' (छा.७.१.३)।। ६।।** नित्य एक स्वभाव आत्मा का व्यभिचार न होने से शोक के कारण का असंभव है। इस बात को दूसरी श्रुति कहती है- 'आत्मज्ञानी शोक को पार कर जाता है'।। ६।।

इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम्।
सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम्।। ७।।
अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च।
यं ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति।। ८।।

इन्द्रियेभ्यः मनः परम्- इन्द्रियों से मन पर अर्थात् सूक्ष्म है, **मनसः सत्त्वं उत्तमम्-** मन से सत्त्व अर्थात् बुद्धि श्रेष्ठ अर्थात् सूक्ष्म है। **सत्त्वात् महान् आत्मा अधि-** बुद्धि से महान् आत्मा अर्थात् महत्तत्त्व ऊपर अर्थात् सूक्ष्म है, **महतः अव्यक्तं उत्तमम्-** महत्तत्त्व से अव्यक्त उत्तम अर्थात् सूक्ष्म है, **अव्यक्तात् तु व्यापकः अलिंगः एव च पुरुषः परः-** और अव्यक्त से व्यापक अलिंग (सब संसार धर्म वर्जित) पुरुष ही पर अर्थात् सूक्ष्म है। **यं ज्ञात्वा जन्तुः मुच्यते अमृतत्वं च गच्छति-** जिसे जान कर प्राणि संसार बन्धन से मुक्त हो जाता है तथा अमरत्व को प्राप्त करता है।। ७,८।।

यस्मादात्मन इन्द्रियाणां पृथग्भाव उक्तो नासौ बहिरधिगन्तव्यो यस्मात्प्रत्यगात्मा स सर्वस्य, तत्कथमित्युच्यते इन्द्रियेभ्यः परं मन इत्यादि। क्योंकि आत्मा का इन्द्रियों से पृथक् स्वभाव कहा गया, इसलिए वह बाहर जानने योग्य नहीं है, क्योंकि वह सभी की अन्तरात्मा है। किस प्रकार वह सभी की अन्तरात्मा है, इसे 'इन्द्रियों से मन पर है' इत्यादि से कहते हैं। **टीका-** इन्द्रियों से अर्थ सूक्ष्म है, यह पहले कहा था। यहाँ अर्थों का ग्रहण न होने से सब से आत्मा का प्रत्यक् है, यह संभव नहीं है, ऐसी आशंका करते हुए कहते हैं- **अर्थाना-**

मिहेन्द्रियसमानजातीयत्वादिन्द्रियग्रहणेनैव ग्रहणम्। यहाँ आकाश आदि पदार्थ इन्द्रियों के सजातीय होने से, इन्द्रियों के ग्रहण से उनका ग्रहण हो गया है। **पूर्ववदन्यत्।** बाकी (अन्य पदों की व्याख्या) पहले के समान है। **सत्त्वशब्दाद्बुद्धिरिहोच्यते।। ७।।** सत्त्व शब्द से यहाँ बुद्धि कही जाती है।

अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापको व्यापकस्याप्याकाशादेः सर्वस्य कारणत्वात्। अव्यक्त से पर अर्थात् सूक्ष्म पुरुष है। वह व्यापक है, क्योंकि वह व्यापक आकाश आदि सभी के भी कारण है। (नैयायिक आत्मा को बुद्धि अर्थात् ज्ञान आदि का आश्रय मानते हैं। वे इस प्रकार तर्क देते हैं) टीका- बुद्धि, सुख, दुःख आदि साश्रय (आश्रयवाले) हैं, गुण होने से, रूप के जैसे, इस प्रकार वैशेषिक अनुमान करते हैं। वह ठीक नहीं है। साश्रयत्व मात्र के साधन से सिद्धसाधन का दोष होने से, और काम आदि गुण मन का है यह श्रुति में कहे जाने से, तथा श्रुति में आत्मा को निर्गुण कहा है अतः बुद्धि आदि को आत्मा के आश्रय की कल्पना का शास्त्र से विरोध होने से, तथा आत्मा के साथ बुद्धि आदि का अविनाभाव ग्रहण से, बुद्धि आदि आत्मा के लिंग नहीं है। इस बात को कहते हैं- **अलिङ्गो, लिङ्ग्यते गम्यते येन तल्लिंगं बुद्ध्यादि तदविद्यमानस्येति सोऽयमलिंग एव। सर्वसंसारधर्मवर्जित इत्येतत्।** वह अलिंग है। जिससे जाना जाता है उसे लिंग कहते हैं, वे बुद्धि आदि हैं। उससे रहित आत्मा अलिंग ही है। अर्थात् समस्त संसार-धर्मो से रहित है। **यं ज्ञात्वा-ऽऽचार्यतः शास्त्रतश्च मुच्यते जन्तुरविद्यादिहृदयग्रन्थिभिर्जीवन्नेव पति-तेऽपि शरीरेऽमृतत्वं च गच्छति। सोऽलिंगः परोऽव्यक्तात्पुरुष इति पूर्वेणैव सम्बन्धः।। ८।।** जिसे शास्त्र और आचार्य से जान कर प्राणि अविद्या आदि हृदय के ग्रन्थिओं से जीते जी मुक्त हो जाता है, शरीर के छूटने के बाद अमरत्व को प्राप्त करता है। वह अलिंग अव्यक्त से पर पुरुष है। इस प्रकार पूर्व के साथ संबन्ध बैठा लेना चाहिए।। ८।।

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्। हृदा मनीषा मनसाऽभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति।। ९।।

अस्य रूपं संदृशे न तिष्ठति– इस आत्मा का स्वरूप दर्शन अर्थात् दृष्टि के विषय में ठहरता नहीं है। **एनं चक्षुषा न कश्चन पश्यति–** इसलिए इसे कोई चक्षुरादि इन्द्रियों से नहीं देख (जान) सकता है। **अभिक्लृप्त मनसा मनीषा हृदा** – सम्यक् दर्शन मनन रूप मनके नियामक हृदय में स्थित बुद्धि द्वारा, **ये एतत् विदुः–** जो इस आत्मा को जानते हैं, **ते अमृता भवन्ति–** वे अमर हो जाते हैं।। ९।।

कथं तर्ह्यलिङ्गस्य दर्शनमुपपद्यत इत्युच्यते– तो चिन्ह रहित आत्मा का दर्शन (ज्ञान) कैसे संभव है, इस पर कहते हैं– टीका– कैसे दर्शन संभव है? इस प्रकार पूछने वाला का क्या अभिप्राय है? क्या विषय रूप से दर्शन कहना चाहिए या अविषय रूप से दर्शन का उपाय कहना चाहिए? प्रथम पक्ष का निराकरण करते हैं– **न संदृशे संदर्शनविषये न तिष्ठति प्रत्यगात्मनोऽस्य रूपम्।** इस अन्तरात्मा का स्वरूप संदृशे अर्थात् दर्शन के विषय में नहीं रहता है। अर्थात् दर्शन का विषय नहीं होता है। रूप आदि वाला या रूप दर्शन के विषय हो सकते हैं, उसके अभाव से आत्मा इन्द्रियों का विषय नहीं है। **अतो न चक्षुषा सर्वेन्द्रियेण। चक्षुर्ग्रहणस्योपलक्षणार्थत्वात्। पश्यति नोपलभते कश्चन कश्चिदप्येनं प्रकृतमात्मानम्।** इससे नेत्र के द्वारा अर्थात् सभी इन्द्रियों के द्वारा कोई भी प्रसंग प्राप्त आत्मा को नहीं देख पाता है। चक्षु का ग्रहण उपलक्षण अर्थ वाला होने से समस्त इन्द्रियाँ समझना चाहिए। टीका– अब दूसरे विकल्प का खंडन करते हैं– **कथं तर्हि तं पश्येदित्युच्यते।** तो उस आत्मा को कैसे देखें (जाने) इस पर कहते हैं। **हृदा हृत्स्थया बुद्ध्या।** हृदय में स्थित बुद्धि के द्वारा (इसका ज्ञान होता है)। **मनीषा मनसः संकल्पादिरूपस्येष्टे नियन्तृत्वेनोति मनीट् तया हृदा**

मनीषाऽविकल्पयित्र्या। संकल्प विकल्प रूप वाला मन को नियन्ता के रूप में इष्टे अर्थात् शासन करता है, इससे बुद्धि मनिट् है, उस हृदय स्थित विकल्पों से रहित मनके शासक बुद्धि द्वारा, टीका- बाह्य करण समुदाय के उपरत होने पर भी जब मन विषयों का संकल्प करता है, तब मुमुक्षु की बुद्धि उस मन का नियन्ता (नियमन करने वाला) होता है। (बुद्धि मन को समझाती है) अरे मन किस लिए तू पिशाच के समान भागता रहता है। तुम जड़ होने से प्रयोजन का संबन्ध नहीं हो सकने से, और क्षय स्वभाव आदि दोष से दूषित विषयों का संबन्ध से प्रयोजन संभव न होने से, अपने लिए तो तू भागता नहीं है। चेतन के असंग होने से और परमानन्द स्वभाव होने से चेतना के लिए भी नहीं। वह बुद्धि नियन्ता के रूप में मन का शासक है इससे उसे मनिट कहते हैं। उस विकल्प रहित बुद्धि से आत्मा का ज्ञान होता है। अर्थात् विषय कल्पना से शून्य ब्रह्मास्मि को विषय करने वाली ब्रह्मभाव का व्यंजक महावाक्य से उत्पन्न बुद्धिवृत्ति के द्वारा आत्मा जाना जा सकता है यह संबन्ध है। किस रूप वाला आत्मा? इस पर कहते हैं- **मनसा मननरूपेण सम्यग्दर्शनेन अभिक्लृप्तोऽभिसमर्थितोऽभिप्रकाशित इत्येतत् आत्मा ज्ञातुं शक्यत इति वाक्यशेषः। तमात्मानं ब्रह्मैतद्ये विदुरमृतास्ते भवन्ति।। ९।।** मनसा अर्थात् सम्यक् दर्शन (ज्ञान) रूप मनन रूप से अभिक्लृप्त अर्थात् प्रकाशित यह आत्मा जाना जा सकता है, इतना जोड़ कर अर्थ लगाना चाहिए। उस आत्मा को ब्रह्म के रूप में, इसे जो जानते हैं, वे अमर हो जाते हैं।। ९।।

टीका- जैसे जो जो बाहर के घट आदि मेरे द्वारा देखा जाता है, वह वह मैं नहीं हूँ, वैसे इस देहादि संघात में जो जो दृश्य है, वह वह मैं नहीं हूँ, किन्तु (संघात में) जो यहाँ ज्ञाता का अंश (भाग) है, वह मैं हूँ। समस्त शरीरों में एक ही लक्षण से लक्षित होने से वह आत्मा एक ही है इस प्रकार के विचार के द्वारा आत्मा को जान सकते हैं। यह संभावित प्रथम अर्थ है।। ९।।

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्।। १०।।

यदा मनसा सह पंच ज्ञानानि अवतिष्ठन्ते- जिस अवस्था में मनके साथ पांच ज्ञानेन्द्रिय अपने स्वरूप में अवस्थान करते हैं

अर्थात् विषय की ओर नहीं जाते हैं, **बुद्धिः च न विचेष्टति–** बुद्धि भी चेष्टा नहीं करती है **तां परमां गतिं आहुः–** उस अवस्था को उत्तम गति कहते हैं।। १०।।

टीका– वेदान्त के श्रवण करने वालों में से कुछ साधकों में 'मै ब्रह्म हूँ' इस प्रकार की बुद्धि स्थिरता नहीं देखी गयी है, इससे कुछ अन्य प्रतिबन्ध है, उसके निवारण के कोई अन्य उपाय कहना चाहिए, इस अभिप्राय से कहते हैं– **सा हृन्मनीट् कथं प्राप्यत इति तदर्थो योग उच्यते–** वह हृदय में स्थित मनीषा कैसे प्राप्त होती है, इस के लिए योग कहा जाता है– **यदा यस्मिन्काले स्वविषयेभ्य निवर्तितान्यात्मन्येव पंच ज्ञानानि। ज्ञानार्थत्वाच्छ्रोत्रादीन्द्रियाणि ज्ञानान्युच्यन्ते अवतिष्ठन्ते सह मनसा यदनुगतानि तेन संकल्पादिव्यावृत्तेनान्तःकरणेन।** जब अर्थात् जिस समय अपने विषयों से पांच ज्ञान अर्थात् ज्ञान के लिए होने से श्रोत्र आदि ज्ञानेन्द्रियाँ निवर्तित हो कर मन के साथ अर्थात् जिसमें अनुगत संकल्पआदि से व्यावृत अन्तःकरण के साथ आत्मा में ही अवस्थान करते हैं। **बुद्धिश्चाध्यवसायलक्षणा न विचेष्टति स्वव्यापारेषु न विचेष्टते न व्याप्रियते तामाहुः परमां गतिम्।। १०।।** और अध्यवसाय लक्षण वाली बुद्धि भी अपने व्यापार में चेष्टा नहीं करती अर्थात् व्यापृत नहीं होती, उसे अर्थात् ऐसी अवस्था को परम अर्थात् उत्कृष्ट गति कहते हैं।। १०।।

टीका– श्रवण और मनन से प्रमाणप्रमेय गत असंभावना के निरास होने पर भी चित्त के अनेक्रगता दोष प्रतिबन्धक हो सकता है, उसके निवारण के लिए योग के अनुष्ठान का उपदेश करते हैं। यह अर्थ है। यदनुगत अर्थात् जिस जिस राजस आदि वृत्ति वाले मन से अधिष्ठित हैं उन उन वृत्तियों के साथ रहते हैं। उनसे निवृत्त अर्थात् अपने व्यापार से निवृत्त होते हैं।। १०।।

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरमिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ।। ११।।

तां स्थिरं इन्द्रियधारणां योगं इति मन्यन्ते– ऐसी इन्द्रियों की धारणा अर्थात् अचल स्थिति को योगी जन योग मानते हैं। **तदा**

अप्रमत्तः भवति– उस समय साधक प्रमाद से रहित होता है। **योगो हि प्रभवाप्ययौ–** क्योंकि योग उत्पत्ति और लय धर्म वाला है।। ११।।

तामीदृशीमवस्थां योगमिति मन्यन्ते वियोगमेव सन्तम्। उस ऐसी अवस्था को वियोग होते हुए योग मानते हैं। टीका– वियोग होते हुए योग करके विरुद्ध लक्षणा से मानते है यह कहा गया, उसे स्पष्ट करते हैं– **सर्वानर्थसंयोगवियोगलक्षणा हीयमवस्था योगिनः।** समस्त अनर्थों के संयोग का वियोग लक्षण वाली हि यह योगियों की अवस्था है। टीका– उपसंहृत मन यदि सुषुप्ति में चला जाता है तब वह अनर्थों के बीजावस्था होती है। उस के निवारण के लिए 'मैं पूर्ण ब्रह्म हूँ' इस प्रकार आवृत्ति में मन को लगाएँ, आवृत्ति में लगे हुए मन यदि विषयों में विक्षिप्त हो जाए तो उससे भी मन को हटाएँ। उनसे व्यावृत्त हुआ मन यदि तटस्थ रहता है, वह भी जब तक रहता है जब तक राग आदि कषाय अवस्था है। उस से भी निरुद्ध अवस्था, जब न जागता है न सोता है और न अन्तराल अवस्था में होता है, पूर्ण ब्रह्म के अवभासक रूप से क्षीण हो जाता है, वह अवस्था समस्त अनर्थों के वियोग लगक्षवाली होती है। यह अर्थ है। **एतस्यां ह्यवस्था–यामविद्याध्यारोपणवर्जितः स्वरूपप्रतिष्ठ आत्मा।** इसी अवस्था में आत्मा अविद्या–अध्यारोपण से रहित स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है। **स्थिरमिन्द्रियधारणां स्थिरामचलामिन्द्रियधारणां बाह्यान्तःकरणानां धारणामित्यर्थः।** स्थिर अर्थात् अचल है इन्द्रियधारणा अर्थात् बाह्य और अन्तःकरणों की धारणा। **अप्रमत्तः प्रमादवर्जितः समाधानं प्रति नित्यं यत्नवांस्तदा तस्मिन्काले यदेव प्रवृत्तयोगो भवति सामर्थ्यादव–गम्यते।** अप्रमत्त अर्थात् प्रमाद से रहित होता है। समाधान (समाधि) के प्रति नित्य प्रयत्नवाला होता है। तब अर्थात् उस समय। जब योगी योग में प्रवृत्त होता है तब प्रमाद रहित होता है। यह अर्थ वाक्य के सामर्थ्य से जान पड़ता है। **न हि बुद्ध्यादिचेष्टाऽभावे प्रमादसंभवोऽस्ति। तस्मात्प्रागेव बुद्ध्यादिचेष्टोपरमादप्रमादो विधीयते।** उस अवस्था में बुद्धि आदि की चेष्टा के अभाव होने से प्रमाद का होना संभव नहीं है। इससे बुद्धि आदि की चेष्टा के उपरमता से पूर्व अप्रमाद का विधान होता है। अर्थात् ऐसी स्थिति प्राप्त होने से पूर्व

प्रमाद से रहित होना चाहिए। टीका– योग के आरंभ समय प्रमाद का त्याग विधेय रूप से व्याख्या करके अनुवाद परक रूप से व्याख्यान करते हैं– **अथवा यदैवेन्द्रियाणां स्थिरा धारणा तदानीमेव निङ्कुशमप्रमत्तत्व-मित्यतोऽभिधीयतेऽप्रमत्तस्तदा भवतीति।** अथवा जब ही इन्द्रियों की स्थिर धारणा होती है तब ही निरंकुश अप्रमत्तता होती है, इस लिए कहते हैं कि तब प्रमाद रहित होता है। टीका– विधि पक्ष में हेतु पूछते हैं– **कुतः। योगो हि यस्मात्प्रभवाप्ययावुपजनापायधर्मक इत्यर्थो-ऽतोऽपायपरिहारायाप्रमादः कर्तव्य इत्यभिप्रायः।। ११।।**

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते।। १२।।

न एव वाचा न मनसा न चक्षुषा प्राप्तुं शक्यः– वह आत्मा न वाणी से न मन से और न चक्षु से प्राप्त किया जा सकता है। **अस्ति इति ब्रुवतः –** आत्मा है अर्थात् सत् है ऐसे कहने वाले सद्वादीओं से **अन्यत्र–** भिन्न असद्वादियों के द्वारा **कथं तत् उपलभ्यते–** वह आत्मा कैसे उपलब्ध हो सकता है? अर्थात् किसी प्रकार उपलब्ध नहीं हो सकता है।। १२।।

टीका– आगे के ग्रन्थ के अवतरणिका के रूप में शंका करते हैं– **बुद्ध्यादिचेष्टाविषयं चेद्ब्रह्मेदं तदिति विशेषतो गृह्येत बुद्ध्याद्युपरमे च ग्रहणकारणाभावादनुपलभ्यमानं नास्त्येव ब्रह्म।** यदि ब्रह्म, बुद्धि आदि की चेष्टा का विषय होता तो 'वह ब्रह्म है' इस प्रकार विशेष रूप से ग्रहण होता, और बुद्धि आदि के उपरत होने पर ब्रह्म को ग्रहण करने वाले बुद्धि आदि कारणों के अभाव से उपलब्ध न होता हुआ ब्रह्म नहीं है। **यद्धि करणगोचरं तदस्तीति प्रसिद्धं लोके विपरीतं चासदित्यतश्चानर्थको योगोऽनुपलभ्यमानत्वाद्वा नास्तीत्युपल्ब्धव्यं ब्रह्मेत्येवं प्राप्त इदमुच्यते–** जो तो करणों का विषय होता है वह अस्ति (सत्, है) उसके विपरीत असत् करके संसार में प्रसिद्ध है, इससे योग अनर्थक है। अथवा अनुपलब्ध होने से 'ब्रह्म नहीं है' इस प्रकार जानना चाहिए। यह प्राप्त होने पर कहते हैं– **सत्यम्।**

नैव वाचा न मनसा न चक्षुषा नान्यैरपीन्द्रियैः प्राप्तुं शक्यत इत्यर्थः। ठीक् है (अर्ध स्वीकृति)। वाणी से, मन से, चक्षु से, दूसरे इन्द्रियों से ब्रह्म प्राप्त नहीं किया जा सकता। यह अर्थ है। **तथापि सर्वविशे-षरहितोऽपि जगतो मूलमित्यवगतत्वादस्त्येव कार्यप्रविलापनस्यास्तित्व-निष्ठत्वात्।** फिर भी समस्त विशेषों से रहित होने पर भी संसार का मूल कारण के रूप में ज्ञात होने के कारण ब्रह्म है (सत्), क्योंकि कार्य के विलय अस्तित्व निष्ठ होता है। टीका- घट है ऐसे जाननेवाला के लिए मुद्गर की चोट से घट के नाश होने पर नास्तित्व अंश घटाकार में ही विलीन होता है। क्योंकि उस अस्तित्व का कपाल आदि में अनुवृत्ति देख गया है। इसलिए कार्य का विलय अस्तित्वनिष्ठ होने से, उसका शून्यता में पर्यवसान नहीं होता। **तथा हीदं कार्यं सूक्ष्मतारतम्यपारम्पर्येणानुगम्यमानं सद्बुद्धिनिष्ठामेवावगमयति।** वैसे ही यह कार्य सूक्ष्मता तारतम्य परम्परा से अनुगमन करने पर सद्बुद्धि निष्ठा को बोध कराता है। **यदाऽपि विषयप्रविलापनेन प्रविलाप्यमाना बुद्धिस्तदाऽपि सा सत्प्रत्ययगर्भैव विलीयते।** और जब विषयों के विलय द्वारा बुद्धि का विलय किया जाता है, तब वह बुद्धि सत्-प्रत्यय के अन्दर ही विलीन होती है। **बुद्धिर्हि नः प्रमाणं सद-सतोर्याथात्म्यावगमे।** सत् और असत् के यथार्थता बोध में बुद्धि ही हमारे लिए प्रमाण है। **मूलं चेज्जगतो न स्यादसदन्वितमेवेदं कार्यम-सदित्येव गृह्येत न त्वेतदस्ति सत्सदित्येव तु गृह्यते। यथा मृदादि कार्यं घटादि मृदाद्यन्वितम्।** यदि संसार का मूल कारण सत् न होता असत् से युक्त यह कार्य असत् करके ग्रहण होता, (अर्थात् घट आदि नहीं है ऐसा व्यवहार होता) किन्तु ऐसा नहीं होता। सत् सत् (घट है, पट है) इस प्रकार ग्रहण किया जाता है। जैसे मिट्टी आदि का कार्य घट आदि मिट्टी आदि से युक्त है। **तस्माज्जगतो मूलमात्मास्तीत्येवो-पलब्धव्यः।** इसलिए संसार का मूल आत्मा अस्ति 'है' इस प्रकार उपलब्ध करना चाहिए। **कस्मात्। अस्तीति ब्रुवतोऽस्तित्ववादिन आगमार्थानुसारिणः श्रद्दधानादन्यत्र नास्तित्ववादिनि नास्ति जगतो**

मूलमात्मा निरन्वयमेवेदं कार्यमभावान्तं प्रविलीयत इति मन्यमाने विपरीतदर्शिनि कथं तद्ब्रह्म तत्त्वत उपलभ्यते न कथंचनोपलभ्यत इत्यर्थः।। १२।। आत्मा को सत् के रूप में क्यों उपलब्ध करना चाहिए ? क्योंकि अस्ति (सत्) कहने वाले आगम (श्रुति) के अर्थ को अनुसरण करने वाले श्रद्धालु सद्वादी से भिन्न जो असत् वादी हैं, जो कहते हैं कि संसार का मूल (कारण) आत्मा नहीं है, अन्वय (कार्य कारण का तर्क संगत संबन्ध) रहित यह संसार रूप कार्य अभाव में ही विलीन होता है, इस प्रकार मानने वाले विपरीत ज्ञान वालों को कैसे वह ब्रह्म यथार्थ रूप से उपलब्ध होगा? अर्थात् किसी प्रकार भी उन्हें यह ब्रह्म उपलब्ध नहीं हो सकता है।। १२।।

अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति।। १३।।

उभयोः– दोनों सोपाधिक और निरुपाधिक ब्रह्म में **अस्ति इति एव उपलब्धव्यः–** सोपाधिक को 'अस्ति इति' अर्थात् सत् रूप से उपलब्ध करना चाहिए। **तत्त्वभावेन च–** और तात्विक रूप से निरुपाधिक का भी उपलब्ध करना चाहिए। **अस्ति इति उपलब्धस्य–** जिसने पहले सोपाधिक को सत् रूप से उपलब्ध किया **तत्त्वभावः प्रसीदति–** उसके लिए निरुपाधिक तत्त्वभाव अभिमुख होता है।। १३।।

तस्मादपोह्यासद्वादिपक्षमासुरमस्तीत्येवाऽऽत्मोपलब्धव्यः सत्कार्यो बुद्ध्याद्युपाधिः। इसलिए आसुरी असद्वादियों के पक्ष का तिरस्कार कर, सत् का कार्य बुद्धि आदि उपाधिवाला आत्मा को 'अस्ति' अर्थात् सत् रूप में उपलब्ध करना चाहिए। **टीका**– सोपाधिक आत्मा के ज्ञान से मुक्ति असंभव होने से निरुपाधिक के ज्ञान के लिए प्रयत्न करना चाहिए इसे कहते हैं– **यदा तु तद्रहितोऽविक्रिय आत्मा कार्यं च कारणव्यतिरेकेण नास्ति 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यमिति' श्रुतेस्तदा तस्य निरुपाधिकस्यालिङ्गस्यसदसदादिप्रत्यय–**

विषयत्ववर्जितस्याऽऽत्मनस्तत्त्वभावो भवति। तेन च रूपेणाऽऽत्मो-पलब्धव्य इत्यनुवर्तते। 'विकार (कार्य घट आदि) वाणी का विलास, नाम मात्र है, मिट्टी ही सत्य है' इस श्रुति से कारण से अतिरिक्त कार्य नहीं है। जब तो उपाधि से रहित आत्मा है तब उस निरु-पाधिक, लिंग (हेतु) रहित, असत् आदि ज्ञान के विषयता से रहित, आत्मा का तत्त्वभाव (पारमार्थिक स्वरूप) होता है। उस रूप से आत्मा को जानना चाहिए। यहाँ उपलब्ध पद की अनुवृत्ति होती है। **टीका–** सोपाधिक में स्थिर हुए चित्त के द्वारा लक्ष्य पदार्थ बोध होने पर क्रम से वाक्य के अर्थ का बोध संभावित होता है, इसे कहते है– **तत्राप्युभयोः सोपाधिकनिरुपाधिकयोरस्तित्वतत्त्वभावयोः।** तत्र अर्थात् सोपाधिक और निरुपाधिक दोनों में अस्तित्व और तत्त्वभाव में निर्धारण करने पर। **निर्धारणार्था षठी।** यहाँ षष्ठी विभक्ति निर्धारण अर्थ में है। **पूर्वमस्तीत्येवोपलब्धस्याऽऽत्मनः** <u>**सत्कार्योपाधिकृतास्तित्वप्रत्ययेनोपलब्ध-**</u>**स्येत्यर्थः।** पहले अस्ति इस प्रकार उपलब्ध आत्मा का अर्थात् सत् कार्य उपाधि से होने वाला अस्तित्व ज्ञान के द्वारा उपलब्ध करने वाले के लिए। **टीका–** जिस कारणत्व का सत् रूप से उपलभ्यमान कार्य उपाधि है, उससे होने वाला जो अस्तित्व ज्ञान अर्थात् कारण होने से परमात्मा है इस प्रकार, उससे उपलब्ध। इस प्रकार वाक्य की योजना है। **पश्चात्प्रत्य-स्तमितसर्वोपाधिरूप आत्मनस्तत्त्वभावो विदिताविदिताभ्यामन्योऽद्वय-स्वभावो 'नेति नेति' (बृ.२.३.६) इति 'अस्थूलमनण्वह्रस्वम्' (बृ.३.८.८) 'अदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्ते- ऽनिलयने' (तै.२.५) इत्यादि श्रुति-निर्दिष्टः प्रसीदत्यभिमुखी भवति। आत्मप्रकाशनाय पूर्वमस्तीत्युपलब्ध-वत इत्येतत्।। १३।।** बाद में समस्त उपाधि रहित, विदित अविदित से भिन्न अद्वैत आत्मा का स्वभाव; जिसे श्रुति में 'यह नहीं, यह नहीं' 'अस्थूल, अनणु, अह्रस्व' 'अदृश्य, अनात्म्य, अनिरुक्त, अनिलयन' इत्यादि शब्दों से कहा है, वह प्रसन्न होता है अर्थात् उस साधक के लिए, जिसने पहले अस्ति इस प्रकार उपलब्ध किया है उसके लिये अपने प्रकाशन के लिए अभिमुख होता है।। १३।।

अर्थात् अस्ति रूप से जानने वाले साधक के लिए वह अपना स्वरूप को प्रकाशित कर देता है।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते।। १४।।

यदा हृदि श्रिताः ये सर्वे कामाः प्रमुच्यन्ते– हृदय में आश्रित जो समस्त कामनाएँ जब पूर्ण रूप से छूट जाती है, **अथ मर्त्यः अमृतः भवति**– तब मरणशील पुरुष अमर हो जाता है। **अत्र ब्रह्म समश्नुते**– इस शरीर में (रहते हुए) ब्रह्मभाव को प्राप्त कर लेता है।।। १४।।

एवं परमार्थदर्शिनो यदा यस्मिन्काले सर्वे कामाः कामयितव्य-स्यान्यस्याभावात्प्रमुच्यन्ते विशीर्यन्ते येऽस्य प्राक्प्रतिबोधाद्विदुषो हृदि बुद्धौ श्रिता आश्रिताः। इस प्रकार परमार्थ को जानने वाले पुरुष की, आत्मा से भिन्न कामना के विषयों का अभाव होने से जब, अर्थात् जिस समय, समस्त कामनाएँ, जो इस विद्वान के हृदय में बोध से पहले आश्रित थे, निकल जाती है अर्थात् नष्ट हो जाती है, **टीका**– प्रवृत्त प्रारब्ध कर्म से उपस्थापित शरीर की स्थिति के कारण अन्नपान आदि में प्रवृत्ति के लिए इच्छा से अतिरिक्त समस्त कामनाएँ, जैसे काम्य ज्योतिष्टोम आदि से स्वर्ग प्राप्त करूँगा, त्रिपुरेश्वरी की आराधना से लोगों को वश करूँगा, स्वर्ग आदि में प्राप्त शरीरों में मैं रहूँगा, स्वर्ग के भोग मानो मैंने प्राप्त किया ही है, इस प्रकार प्राप्त विषय वाले कामना व्यर्थ और मिथ्या है, इस प्रकार के विचार से वे कामना नष्ट हो जाते हैं।

टीका– वैशेषिकों का जो मत है कि आत्मा कामनाओं का आश्रय है, वे श्रुतिबाह्य होने से उसका आदर नहीं करना चाहिए, इसे कहते हैं– **बुद्धिर्हि कामानामाश्रयो नाऽऽत्मा।** क्योंकि कामनाओं का आश्रय बुद्धि है आत्मा नहीं। **'कामः संकल्पः ...' (बृ.१.५.३) इत्यादिश्रुत्यन्तराच्च।** 'काम संकल्प आदि सब मन ही है' इत्यादि दूसरी श्रुति भी इस बात को कहती है। **अथ तदा मर्त्यः प्राक्प्रबोधादासीत्स प्रबोधोत्तर-कालमविद्याकामकर्मलक्षणस्य मृत्योर्विनाशादमृतो भवति।** तब मर्त्य

मरण शील पुरुष, ज्ञान से पूर्व वह मर्त्य था, ज्ञान के बाद अविद्या-काम-कर्म लक्षण वाली मृत्यु के विनाश हो जाने से अमृत अर्थात् अमर हो जाता है। **गमनप्रयोजकस्य मृत्योविनाशाद्गमनानुपपत्तेरत्रेहैव प्रदीपनिर्वाणवत्सर्वबन्धनोपशमाद्ब्रह्म समश्नुते ब्रह्मैव भवतीत्यर्थः।। १४।।** परलोक गमन के हेतु (अविद्याकामकर्म लक्षण-वाली) मृत्यु के विनाश हो जाने से, गमन के अभाव से, इस शरीर में प्रदीप निर्वाण के समान समस्त बन्धन के शान्त हो जाने से, वह ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है अर्थात् ब्रह्म ही हो जाता है। यह अर्थ है।। १४।।

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम्।। १५।।

यदा इह हृदयस्य सर्वे ग्रन्थयः प्रभिद्यन्ते- जब जीवित रहते हुए हृदय अर्थात् बुद्धि के सारी ग्रन्थियाँ अर्थात् अविद्या के प्रत्यय नष्ट हो जाते हैं, **अथ मर्त्यः अमृतः भवति-** तब मरणशील मानव अमर हो जाता है। **एतावत् हि अनुशासनम्-** इतना ही सभी वेदान्तों का उपदेश है।। १५।।

टीका- सुषुप्ति में भी कामनाओं का प्रविलय होने से उनका प्रविलय अमृतत्व का चिन्ह नहीं है, ऐसा मान कर कहते हैं- **कदा पुनः कामानां मूलतो विनाश इत्युच्यते-** फिर कामनाओं का जड़ से विनाश कब होता है इस पर कहते हैं- **यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते भेदमुपयान्ति विनश्यन्ति हृदयस्य बुद्धेरिह जीवत एव ग्रन्थयो ग्रन्थिवद्दृढबन्धनरूपा अविद्याप्रत्यया इत्यर्थः।** जीवित रहते हृदय की अर्थात् बुद्धि की सारी ग्रन्थियाँ (गांठें) अर्थात् ग्रन्थी के समान दृढ़ बन्धन रूप अविद्या के प्रत्यय, जब प्रभिन्न हो जाते हैं अर्थात् नष्ट हो जाते हैं, **अहमिदं शरीरं ममेदं धनं सुखी दुःखी चाहमित्येवमादिलक्षणास्तद्विपरीतब्रह्मात्म-प्रत्ययोपजननाद्ब्रह्मैवाहमस्म्यसंसारीति विनष्टेष्वविद्याग्रन्थिषु तन्निमित्ताः कामा मूलतो विनश्यन्ति।** मैं यह शरीर हूँ, मेरा यह धन है, मैं

सुखी हूँ, दुःखी हूँ, इत्यादि प्रकार के लक्षणवाले अविद्या प्रत्यय हैं। उससे विपरीत मैं असंसारी ब्रह्म ही हूँ इस प्रकार के ब्रह्मात्म प्रत्यय की उत्पत्ति से, अविद्या की ग्रन्थियाँ विनष्ट हो जाने से उस निमित्तक कामनाएँ जड़ से नष्ठ हो जाती हैं। **अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्येतावदेवैतन्मात्रं नाधिकमस्तीत्याशंका कर्तव्या। अनुशासन- मनुशिष्टिरुपदेशः सर्ववेदान्तानामिति वाक्यशेषः।। १५।।** तब मरणशील मनुष्य अमर हो जाता है। इतना ही सभी वेदान्तों का अनुशासन अर्थात् अनुशिष्टि अर्थात् उपदेश है। इससे अधीक की आशंका नहीं करनी चाहिए। अनुशासन के साथ सभी वेदान्तों का इतना जोड़ कर अर्थ करना चाहिए।। १५।।

टीका - प्रकरण विच्छेद से कहे गये ग्रन्थ के संबन्ध दीखाते हैं-

निरस्ताशेषविशेषव्यापिब्रह्मात्मप्रतिपत्त्या प्रभिन्नसमस्ताविद्यादिग्रन्थेर्जीवत एव ब्रह्मभूतस्य विदुषो न गतिर्विद्यते इत्युक्तमत्र ब्रह्म समशुत इत्युक्त- त्वान्न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येतीति श्रुत्यन्तराच्च। समस्त विशेषों से रहित सर्व व्यापक ब्रह्मात्म ज्ञान से समस्त अविद्या की ग्रन्थियों के नष्ट हो जानेसे, जीवित रहते हुए ब्रह्मरूप विद्वान की कोई गति (लोकान्तर में गमन) नहीं होती है, क्योंकि 'अत्र ब्रह्म समश्नुते- यहाँ ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है' वाक्य से यहाँ (२.२. १४) यह कहा गया है। दूसरी श्रुति में भी 'उसके प्राण वायु शरीर से निकती नहीं, ज्ञान से ब्रह्म स्वरूप होते हुए ब्रह्म को प्राप्त करता है।' (ज्ञान से सद्यमुक्ति प्राप्त हुए शरीर छूटने से विदेह मुक्ति प्राप्त करता है) **ये पुनर्मन्दब्रह्मविदो विद्यान्तरशीलिनश्च ब्रह्मलोकभाजो ये च तद्विप- रीताः संसारभाजस्तेषामेष गतिविशेष उत्यते प्रकृतोत्कृष्टब्रह्मविद्या- फलस्तुतये।** फिर जो ब्रह्मलोक जाने के योग्य मन्द-ब्रह्मज्ञानी (जिनका ज्ञान दृढ़ नहीं हुआ) और उपासक हैं, तथा इनसे विपरीत जो संसार प्राप्त करने के योग्य हैं, उनके लिए यह विशेष गति कही जाती है और श्रेष्ठ ब्रह्मविद्या की स्तुति के लिए भी। **किंचान्यदग्निविद्या पृष्टाप्रत्युक्ता च। तस्याश्च फलप्राप्तिप्रकारो वक्तव्य इति मन्त्रारम्भः।**

तत्र– और भी दूसरी बात यह है कि अग्निविद्या पूछी गयी थी और उसका वर्णन भी किया गया था। उसका फलप्राप्ति का प्रकार कहना चाहिए, इससे मन्त्र का आरंभ होता है। उसमें–

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभि–
निःसृतैका। तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या
उत्क्रमणे भवन्ति।। १६।।

शतं च एका च हृदयस्य नाड्यः– हृदय की नाड़ियाँ एक सौ एक हैं। **तासां एका मूर्धानं अभिनिःसृता** – उनमें से एक सुषुम्ना नाड़ी, मूर्धा का भेदन कर बाहर की ओर निकलती है। **तया ऊर्ध्वं आयन् अमृतत्वं एति**– उस सुषुम्ना नाड़ी द्वारा निकल कर जीव आपेक्षिक अमरत्व को प्राप्त करता है। **विष्वङ् अन्या उत्क्रमणे भवन्ति**– चारों ओर फैली हुई अन्य नाड़ियाँ संसार प्राप्ति में निमित्त बनते हैं।। १६।।

शतं च शतसंख्याका एका च सुषुम्ना नाम पुरुषस्य हृदया–द्विनिःसृता नाड्यः शिरास्तासां मध्ये मूर्धानं भित्त्वाऽभिनःसूता निर्गता सुषुम्ना नाम। सौ और सुषुम्ना नामवाली एक १०१ हृदय की नाडियाँ अर्थात् शिराएँ पुरुष के हृदय से निकली हुई है, उनमें से एक सुषुम्ना नाडी मूर्धा (सिर) का भेदन कर ऊपर जाती है। **तया–न्तकाले हृदय आत्मानं वशीकृत्य योजयेत्।** अन्तिम समय में मन को वश करके हृदय में उस नाडी के द्वारा आत्मा को युक्त करें। **तया नाड्योर्ध्वमुपर्यायन्गच्छन्नादित्यद्वारेणामृतत्वममरणधर्मत्वमापेक्षिकम्। आभूतसंप्लवं स्थानममृतत्वं हि भाष्यत इति स्मृतेः ब्रह्मणा वा सह कालान्तरेण मुख्यममृतत्वमेति भुक्त्वा भोगाननुपमान्ब्रह्मलोकगतान्।** उस नाडी के द्वारा ऊपर जाते हुए, आदित्य के द्वारा, स्मृति में कहे गये समस्त प्राणियों के लय स्थान, हिरण्यगर्भ लोक रूप आपेक्षिक अमरत्व को प्राप्त करता है। अथवा ब्रह्मलोक स्थित भोगों को भोग कर ब्रह्मा जी साथ बाद में मुख्य अमरत्व को प्राप्त करता है।

विष्वङ्नानाविधगतयोःऽन्या नाड्य उत्क्रमणे निमित्तं भवन्ति संसार-प्रतिपत्त्यर्था एव भवन्तीत्यर्थः। दूसरी नाडियों से निकलने से वह नाना प्रकार की गति के लिए निमित्त बन जाता है अर्थात् संसार प्राप्ति के लिए ही होते हैं।। १६ ।।

टीका- जो भाष्कराचार्य ने कहा है कि ब्रह्म का प्रकरण होने से यह गति भी ब्रह्मज्ञानी के विषय में है। वह ठीक नहीं। गति श्रवण लिंग (हेतु) से गमन के योग्य परिच्छिन्न में इस गति के संबन्ध ज्ञात होने पर दुर्बल प्रकरण के साथ ब्रह्मज्ञानी का संबन्ध युक्तियुक्त नहीं है। अन्य नाडियों के साथ उसका संबन्ध का प्रसंग से तथा श्रुति के विरोध प्रसंग से भी यह युक्तियुक्त नहीं है। इसका विस्तार पूर्वक कथन हमारे प्रकटार्थ ग्रन्थ में देखना चाहिए।। १६ ।।
(श्रुतिलिंगवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्।)

इदानीं सर्ववल्ल्यर्थोपसंहारार्थमाह- अब समस्त वल्लियों का अर्थ का उपसंहार के अर्थ को कहते हैं-

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः। तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण। तं विद्याच्छुक्रममृतं तं विद्याच्छुक्रममृतमिति।। १७।।

अंगुष्ठमात्रः पुरुषः सदा जनानां हृदये संनिविष्टः- अंगूठे परिमाण वाला अन्तरात्मा पुरुष सर्वदा मनुष्यों के हृदय में समाया हुआ है। **मुजात् ईषीका इव धैर्येण तं स्वात् शरीरात् प्रवृहेत्-** जैसे मूँजा से उसकी ईषीका (सींक या तीली) को सावधानी पूर्वक निकाला जाता है वैसे अपने शरीर से उस अन्तरात्मा को धीरता पूर्वक अलग करें। **तं शुक्रं अमृतं विद्यात्** - उसे शुद्ध अमृत जाने **तं शुक्रं अमृतं विद्यात्** - उसे शुद्ध अमृत जाने।। १७ ।।

अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जननां संबन्धिनि हृदये संनिविष्टो यथाव्याख्यातस्तं स्वादात्मीयाच्छरीरात्प्रवृहेदुद्यच्छेन्निष्कर्षे-त्पृथक्कुर्यादित्यर्थः। अगूंठे के आकार अन्तरात्मा पुरुष मनुष्यों के संबन्धित हृदय में समाया है, जैसी व्याख्या की गयी उसे अपने आत्मीय शरीर से निकाले अर्थात् पृथक् करें। **किमिवेत्यच्यते**

मुंजादिवेषीकामन्तथ्सां धैर्येणामप्रमादेन। किसके समान पृथक् करे, इस पर कहते हैं- मुंज घास से उसके भीतर की सींक के जैसे धैर्य के साथ अर्थात् प्रमाद रहित होकर। **तं शरीरान्निकृष्टं चिन्मात्रं विद्याद्विजानीयाच्छुक्रममृतं यच्चोक्तं ब्रह्मेति।** शरीर से पृथक् किये उस चैतन्य मात्र को शुद्ध अमृत रूप में जानो जिस पहले ब्रह्म कहा है। **द्विर्वचनमुपनिषत्परिसमाप्त्यर्थमितिशब्दश्च।। १७।।** दूबार उच्चारण और इति शब्द उपनिषत् की परिसमाप्ति के लिए है।। १७।।

विद्यास्तुथ्यर्थोऽयमाख्यायिकार्थोपसंहारोऽधुनोच्यते- विद्या की स्तुति के लिए इस आख्यायिका के अर्थ का उपसंहार अब कहा जाता है-

मृत्युप्रोक्तां नाचिकेतोऽथ लब्ध्वा विद्यामेतां योगवधिं च कृत्स्नम्। ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्युरन्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव।। १८।।

अथ मृत्युप्रोक्तां एतां विद्यां कृत्स्नं योगविधिं च लब्ध्वा ब्रह्मप्राप्तः नाचिकेतः विरजो विमृत्यु अभूत्- अनन्तर मृत्यु के द्वारा कहे गये इस ब्रह्मविद्या तथा समस्त योग की विधि को प्राप्त कर नचिकेता निष्पाप होकर और मृत्यु से रहित हो गया। **एवं अन्य अपि यः आत्मं एव विदध्य (विरज्य विमृत्यु अभूत्)-** इस प्रकार जो भी कोई आत्मा को ही जान कर पाप रहित मृत्यु को पार करे गये।। १८।।

मृत्युप्रोक्तां यथोक्तामेतां ब्रह्मविद्यां योगविधिं च कृत्स्नं समस्तं सोपकरणं सफलमित्येतत् नाचिकेतो वरप्रदानान्मृत्योर्लब्ध्वा प्राप्येत्यर्थः ब्रह्मप्राप्तोऽभून्मुक्तोऽभवदित्यर्थः। मृत्यु द्वारा कही गयी यथोक्त इस समस्त उपकरण और फल सहित ब्रह्मचिद्या को नचिकेता ने वरप्रदान से मृत्यु से प्राप्त कर, ब्रह्म को प्राप्त किया अर्थात् मुक्त हो गया। **कथम्। विद्याप्राप्त्या विरजो विगतधर्माधर्मो विमृत्यर्विगत-कामाविद्यश्च सन्पूर्वमित्यर्थः।** किस प्रकार मुक्त हुआ? विद्या की

प्राप्ति से रज रहित अर्थात् धर्म और अधर्म से रहित, और मृत्यु रहित अर्थात् कामना और अविद्या से रहित होता हुआ जिससे वह पूर्व युक्त था। **न केवल नाचिकेत एवान्योऽपि नाचिकेतवदात्मविदध्यात्ममेव निरुपचरितं प्रत्यक्स्वरूपं प्राप्य तत्त्वमेवेत्यभिप्रायः। नान्यद्रूपमप्रत्यग्रूपम्** ।केवल नचिकेता ही नहीं और दूसरे भी नचिकेता के समान आत्मज्ञानी उपचार रहित अध्यात्म अन्तरात्म स्वरूप तत्त्व को प्राप्त कर यह अभिप्राय है। कोई दूसरा बाहरी रूप नहीं। **तदेवमध्यात्ममेवमुक्तप्रकारेण वेद विजानातीत्येवंवित्सोऽपि विरजः सन्ब्रह्मप्राप्त्या विमृत्युर्भतीति वाक्यशेषः।** उस अध्यात्म कहे गये प्रकार से जो जानता है, वह भी धर्म अधर्म से रहित होकर ब्रह्म की प्राप्ति से मुक्त हो जाता है। इनना जोड़ कर वाक्य का अर्थ करना चाहिए।। १८।।

टीका– आत्मा अर्थात् देह उस से संबन्धित हो कर रहता है इससे अध्यात्म है। प्रत्यक् स्वरूप ही ब्रह्म है, उसे प्राप्त कर मृत्यु रहित हो जाता है, अर्चि आदि मार्ग से जाने वाला कोई दूसरा रूप को प्राप्त करके नहीं। क्योंकि संयोग का अवसान हुआ है। यह अर्थ है। एवं शब्द का वित् शब्द के साथ संबन्ध है एवंवित् इस प्रकार।। १८।।

शिष्याचार्ययोः प्रमादकृतान्यायेन विद्याग्रहणप्रतिपादननिमित्तदोषप्रशमनार्थेयं शान्तिरुच्यते– शिष्य और आचार्य के प्रमाद या अन्याय से विद्याग्रहण और विद्या का प्रतिपादन (कथन) से होने वाले दोषों का प्रशमन (शान्ति) के लिए यह शान्ति पाठ है–

सह ना ववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्य करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै।। १९।।

इति काठकोपनिषदि द्वितीयाध्याये तृतीया वल्ली समाप्ता।। ३।।
इति काठकोपनिषदि द्वितीयोध्यायः समाप्तः।। २।।

सह नावावामवतु पालयतु विद्यास्वरूपप्रकाशनेन। हम दोनों का साथ साथ विद्या के स्वरूप का प्रकाशन के द्वारा पालन करे। **कः। स एव परमेश्वर उपनिषत्प्रकाशितः।** कौन? वही उपनिषत् में

प्रकाशित परमेश्वर। **किंच सह नौ भुनक्तु तत्फलप्रकाशनेन नौ पालयतु।** और भी वह ईश्वर विद्या के फल का प्रकाशन से हम दोनों का पालन करें। **सहैवाऽऽवां विद्याकृतं वीर्यं सामर्थ्य [1]करवावहै निष्पादयावहै।** हम दोनों साथ साथ विद्या से होने वाला सामर्थ्य का निष्पादन करें। **किंच तेजस्विनौ तेजस्विनोरावयोर्यदधीतं तत्स्वधीत-मस्तु।** और भी हमने जो अध्ययन किया है वह तेजस्वी अर्थात् स्वधीत (आत्मसात्) हो। **अथवा तेजस्वि नावावाभ्यां यदधीतं तदतीव तेजस्वि वीर्यवदस्त्वित्यर्थः।** अथवा हमारे द्वारा अधीत विद्या अत्यन्त तेजस्वी अर्थात् सामर्थ्यवाला हो। **मा विद्विषावहै शिष्यचार्यवन्योन्यं प्रमादकृतान्यायाध्ययनाध्यापनदोषनिमित्तं द्वेषं मा करवावहा इत्यर्थः।** प्रमाद से किया गया या अन्याय पुर्वक अध्ययन और अध्यापन दोष के कारण शिष्य और आचार्य में परस्पर विद्वेष न करें। यह अर्थ है। **शान्तिः शान्तिः शान्तिरिति त्रिर्वचनं सर्वदोषोपशमनार्थमित्योमिति।। १९।।** **१.** लोट् उत्तम पुरुष द्विवचन।

इति काठकोपनिषद्भाष्ये द्वितीयाध्याये तृतीया वल्ली समाप्ता।। ३।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमदाचार्य-श्रीशंकरभगवतः कृतौ काठकोपनिषद्भाष्ये द्वितीयोध्यायः समाप्तः।। २।।

इति काठकोपनिषद्भाष्यटीकायां द्वितीयाध्याये तृतीया वल्ली समाप्ता।। ३।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यानन्दज्ञान-विरचिते काठकोपनिषद्भाष्यव्याख्याने द्वितीयाध्यायः समाप्तः।। २।।

इति समाप्तेयं सटीकाभाष्योपेता काठकोपनिषत्।।